# हिन्दी पटकथा में आदिवासी जीवन : एक अध्ययन

# A STUDY OF TRIBAL LIFE IN HINDI SCREENPLAY

**कालिकट विश्वविद्यालय की**

**डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु प्रस्तुत**

**शोध प्रबंध**

*Thesis*

*Submitted to the University of Calicut*

*for the Degree of*

**DOCTOR OF PHILOSOPHY IN HINDI**


**निर्देशक :**

**डॉ. हेरमन. पी.जे**

असिस्टेन्ट प्रोफेसर

हिन्दी विभाग

कालिकट विश्वविद्यालय

**प्रस्तुतकर्ता :**

**ज्योस्मी. के**

शोध छात्रा

हिन्दी विभाग

कालिकट विश्वविद्यालय

**हिन्दी विभाग**

**कालिकट विश्वविद्यालय**

**2018**

**Dr. HERMAN. P.J**
Assistant Professor
Department of Hindi
University of Calicut

# CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"A Study of Tribal Life in Hindi Screenplay"** is a bonafide record of research work carried out by **Jyosmi. K,** under my supervision and that no part of this thesis has hitherto been submitted for a Research Degree in any University.

C.U. Campus
Date:

**Dr. Herman. P.J**
(Supervising Teacher)

**Dr. HERMAN. P.J**
Assistant Professor
Department of Hindi
University of Calicut

# CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"A Study of Tribal Life in Hindi Screenplay"** is a bonafide record of research work carried out by **Jyosmi. K,** under my supervision and that no part of this thesis has hitherto been submitted for a Research Degree in any University.

It is also certified that the reports of the adjudicators of the thesis have not been suggested any modifications/corrections on the work.

C.U. Campus
Date:

**Dr. Herman. P.J**
(Supervising Teacher)

# DECLARATION

I, **JYOSMI.K,** do hereby declare that this thesis entitled **"A Study of Tribal Life in Hindi Screenplay"** is a record of bonafide research carried out by me and this has not previously formed the basis for the award of any Degree, Diploma, Associateship, Fellowship other similar Title or Recognition. This research work was supervised by **Dr. Herman. P.J**, Assistant Professor, Department of Hindi, University of Calicut.

C.U. Campus
Date:

**JYOSMI. K**
Research Scholar
Department of Hindi
University of Calicut

# अनुक्रमणिका


| | | पृ.सं. |
|---|---|---|
| **प्राक्कथन** | | **i-v** |
| **पहला अध्याय :** | | **1-74** |
| **आदिवासी जीवन** | | |
| 1.1 | आदिम या आदिवासी का अर्थ | |
| 1.1.1 | परिभाषाएँ | |
| 1.1.2 | भारत के आदिवासी | |
| 1.2 | भारतीय आदिवासी : भौगोलिक एवं सामाजिक स्वरूप | |
| 1.2.1 | उत्तरी क्षेत्र | |
| 1.2.2 | मध्यक्षेत्र | |
| 1.2.3 | पश्चिमी क्षेत्र | |
| 1.2.4 | दक्षिणी क्षेत्र | |
| 1.3 | भारत के प्रमुख आदिवासी जातियाँ | |
| 1.3.1 | गोंड आदिवासी | |
| 1.3.2 | संथाल आदिवासी | |
| 1.3.3 | भील आदिवासी | |
| 1.3.4 | उराँव आदिवासी | |
| 1.3.5 | गारो आदिवासी | |

1.3.6 मिज़ो आदिवासी

1.3.7 हो आदिवासी

1.3.8 कोरकू आदिवासी

1.3.9 सहरिया आदिवासी

1.3.10 अगरिया आदिवासी

1.3.11 असुर आदिवासी

1.3.12 बंजारा आदिवासी

1.3.13 भूमिज आदिवासी

1.3.14 सौरिया पहाडिया आदिवासी

1.3.15 खडिया आदिवासी

1.3.16 माल पहाडिया आदिवासी

1.3.17 बिरहोर आदिवासी

1.3.18 मुंडा आदिवासी

1.3.19 कोलाम आदिवासी

1.3.20 खासी आदिवासी

1.3.21 बुगुन आदिवासी

1.3.22 सिंहाओ आदिवासी

1.3.23 नागा आदिवासी

1.4 आदिवासी समाज

1.5 आदिवासी संस्कृति

1.5.1 जनजातियों की सांस्कृतिक धरोहर

1.5.1.1 त्योहार

1.5.1.2 अंधविश्वास

1.5.1.3 विवाह

1.5.1.4 मृतक संस्कार

1.5.1.5 जन्म

1.5.1.6 लोकगीत

1.5.1.7 लोककथा

1.5.1.8 रीति-रिवाज

1.5.1.9 प्रकृति पूजा

1.5.1.10 धर्म

1.6 आदिवासियों की भाषा

1.7 आदिवासी साहित्य और उसकी जातीय अस्मिता

1.8 कहानी में आदिवासी जीवन

1.8.1 विहान

1.8.2 और मादल बजी रही

1.8.3 पहचान

1.8.4 खखरा का जतरू

1.8.5 टीस

1.8.6 मैं जीति हूँ

1.8.7 बक्खड

1.8.8 अंधेरे में सुगंध

1.8.9 हाँ आज यहाँ कल वहाँ चले

1.9 काव्य में आदिवासी जीवन

1.9.1 स्टेज

1.9.2 अपने घर की तलाश

1.9.3 वह जारवा औरत

1.9.4 एकलव्य और अन्य कविताएँ

1.9.5 वंशी और मादल

1.10 नाटक में आदिवासी जीवन

1.10.1 नुझंडर डांड

1.10.2 पोस्टर

1.10.3 हवाओं का विद्रोह

1.10.4 हिरमा की अमर कहानी

1.10.5 एक बार फिर

1.10.6 मोर्चा मानगढ

1.10.7 धरती आबा

1.11 उपन्यास में आदिवासी जीवन

1.11.1 रथ के पहिए

1.11.2 मैला आँचल

1.11.3 वन लक्ष्मी

1.11.4 मोरझल

1.11.5 साँप और सीढी

1.11.6 सावधान नीचे आग है

1.11.7 शैलूष

1.11.8 पठार पर कोहरा

1.11.9 धार

1.11.10 पार

1.11.11 काला पहाड

1.11.12 ग्लोबल गाँव के देवता

1.12 आदिवासी विकास एवं दशा

निष्कर्ष

**दूसरा अध्याय :** **75-124**

**साहित्य विधा के रूप में पटकथा का विकास**

2.1 पटकथा एक संक्षिप्त परिचय

2.1.1 पटकथा का अर्थ एवं परिभाषाएँ

2.2 पटकथा का स्वरूप

2.3 पटकथा लेखन के चरण

2.3.1 कथा विचार

2.3.2 संक्षिप्त कथा

2.3.3 विकसित कथा

2.3.4 दृश्य रूपरेखा

2.3.5 व्यावहारिक रूपरेखा

2.3.6 पूर्ण रूपरेखा

2.3.7 शूटिंग स्क्रिप्ट

2.4 पटकथा लेखन की शैलियाँ

2.4.1 कल्पनावादी शैली

2.4.2 यथार्थवादी शैली

2.5 पटकथा लेखन की पद्धतियाँ

2.5.1 क्रमबद्ध पद्धति

2.5.2 स्थापित पद्धति

2.6 पटकथा में दृश्य संरचना

2.6.1 पटकथा लेखन की भाषा

2.6.2 कथा-पटकथा

2.7 साहित्य और सिनेमा : अंतर्संबंध

2.8 साहित्य और पटकथा

2.8.1 साहित्य पर आधारित पटकथा

निष्कर्ष

**तीसरा अध्याय :** **125-181**

**आदिवासी जीवन केन्द्रित पटकथा**

3.1 मनोरंजन के बाज़ार में आदिवासी

3.1.1 हिन्दी फिल्मों में आदिवासी जीवन

3.2 आदिवासी केन्द्रित पटकथा

3.2.1 रोटी (1964)

3.2.2 मृगया (1976)

3.2.3 बैंडिट क्यून (199)

3.2.4 चक्रव्यूह (2012)

3.2.5 धर्मात्मा (1975)

3.2.6 धरम वीर (1977)

3.2.7 कारवाँ (1981)

3.2.8 तराना (1979)

3.2.9 नागिन (1954)

3.2.10 बरसात (1949)

3.2.11 इज़्ज़त (1968)

3.2.12 कुदरत (1981)

3.2.13 जनम-जनम (1988)

3.2.14 महबूबा (1976)

3.2.15 दो दिल (1965)

3.2.16 राजकुमार (1964)

3.2.17 ये गुलिस्ताँ हमारा (1972)

निष्कर्ष

**चौथा अध्याय :** **182-225**

**आदिवासी पटकथा : विश्लेषणात्मक अध्ययन**

4.1 पटकथा और आदिवासी मुद्दें

4.1.1 आर्थिक बदहाली

4.1.2 पूँजीपतियों का अत्याचार

4.1.3 भ्रष्टाचार

4.1.4 वन दोहन

4.1.5 नारी शोषण

4.1.6 स्त्री नुमाइश की वस्तू

4.1.7 विस्थापन

4.1.8 नक्सलवाद

4.1.9 विद्रोही स्वर

4.2 पटकथा का आदिवासी जीवन से नाता

4.2.1 बरसात (1949)

4.2.2 नागिन (1954)

4.2.3 रोटी (1964)

4.2.4 इज़्ज़त (1968)

4.2.5 ये गुलिस्ताँ हमारा (1972)

4.2.6 मृगया (1976)

4.2.7 तराना (1979)

4.2.8 आक्रोश (1980)

4.2.9 बंडिट क्यून (1994)

4.2.10 चक्रव्यूह (2012)

निष्कर्ष

**पाँचवाँ अध्याय : 226-256**

**आदिवासी उत्थान : पटकथा की भूमिका**

5.1 आदिवासी उत्थान

5.1.1 मीडिया

5.1.2 नेतृत्व का अभाव

5.1.3 संयुक्त संगठनों एवं मंचों पर दलितों का कब्ज़ा

5.1.4 विस्थापन की समस्या

5.1.5 धार्मिक भावनाओं से खिलवाड

5.1.6 आरक्षित पदों पर ईसाइयों का कब्ज़ा

5.1.7 अपने ही लोगों द्वारा तिरस्कार

5.1.8 राजनीति दलों से दूरी

5.1.9 उत्पाद का सही कीमत न मिलना

5.1.10 संकुचित मानसिकता

5.2 आदिवासी उत्थान : पटकथा का योगदान

5.2.1 नारी की बदलती छवि

5.2.2 नक्सलवाद की विभीषिका

5.2.3 विस्थापन की जकडन

5.2.4 अधिकारियों के नकाब का पर्दाफाश

निष्कर्ष

**उपसंहार** **257-268**

**संदर्भ ग्रन्थ सूची** **269-277**

# प्राक्कथन

# प्राक्कथन

आज सिनेमा मनोरंजन का सबसे बडा माध्यम है। दृश्य और श्रव्य का यह युग्म जनमानस में साहित्य की अपेक्षा कहीं ज़्यादा स्वीकृत, प्रचलित और प्रभावी है। साहित्य विश्व की प्राचीनतम कला है तो सिनेमा नवीनतम। सिनेमा हमें समाज में व्याप्त अच्छाइयों और बुराइयों को दिखाकर उनसे लडने की प्रेरणा भी देता है और हमारे विचारों का रेचन-विरेचन भी करता है। सिनेमा में समाज अपनी सारी समग्रता, सारी खूबी और खामियों के साथ अभिव्यक्त है, जो न केवल समाज की अच्छाइयों को उजागर करता है बल्कि उसके दुर्बल और बुरे पक्ष को भी दिखाता है। सिनेमा का प्रभाव व्यक्ति पर अच्छे और बुरे दोनों तरीके से पडता है।

सिनेमा समाज का आईना होता है जो वक्त की सच्चाइयों से हमें अवगत कराते हुए तत्कालीन परिस्थितियों के बदलाव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सिनेमा न सिर्फ मनोरंजन का साधन मात्र है, बल्कि वह हमारी सोच हमारी मानसिकता को नई दिशा प्रदान कर हमारे विचारों में परिवर्तन लाने की चेष्टा भी करती है।

भारत के बहुत सारे समाज सुधारकों ने अछूतों की ज़िन्दगी को बदलने की कोशिश की लेकिन अजीब बात यह है कि प्रचार के सबसे अच्छा साधन होकर भी सिनेमा इस विषय से अछूता रहा। दरअसल शुरुआत से ही सिनेमा पर उच्च वर्ग का या उच्च जाति का प्रभुत्व रहा है। इस कारण से दलित और आदिवासी को फिल्मी दुनिया ने अछूता ही रखा है। फिल्म जगत में आदिवासियों की अस्मिता को

सामने लाने वाली फिल्में बहुत कम हैं और गैर आदिवासियों द्वारा बनाई गयी फिल्मों में आदिवासी अमूर्त प्रतीत होती है।

फिल्मों के व्यावसायिक और कलात्मक नज़रिए से सफल होने के लिए आधारभूत तत्व के नाते कथा, पटकथा, संवाद के बहुत अधिक अहमियत है। सिनेमा निर्माण के प्रमुख तत्व पटकथा है। जिसे अंग्रेज़ी में 'स्क्रीनप्ले' कहते हैं। पटकथा किसी फिल्मी या दूरदर्शन कार्यक्रम के लिये लिखा गया कच्चा चिट्ठा होता है। यह मूल रूप से भी लिखा जा सकता है और किसी कहानी या उपन्यास के ज़रिए भी तैयार किया जा सकता है।

हिन्दी फिल्मों में आदिवासी जीवन को अधिक प्रखर बनाने में पटकथा का बहुत बडा योगदान रहा है। पटकथा द्वारा आदिवासियों के जीवन संघर्ष, यातना, शोषण, बेरोज़गारी, भूख, बीमारी, विस्थापन आदि समस्याओं को खुल कर पेश किया गया है। इस तरह आदिवासी जीवन के यथार्थ चित्र को देखने-परखने की मज़बूत कडी के रूप में पटकथा सामने आते हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबंध में उक्त हाशिएकृत समाज की उत्थान में पटकथा किस कदर सफल रही इस पर शोधपरक विश्लेषणात्मक अध्ययन करने की विनम्र प्रयास किया गया है।

मेरे प्रेरणादाता आदरणीय गुरुवर डॉ. पी.जे हेरमन साहब के साथ बैठकर विषयोचित विचार-विमर्श करने के पश्चात् मैंने पी.एच.डी की उपाधि के लिए शोध-प्रबंध का विषय 'हिन्दी पटकथा में आदिवासी जीवन : एक अध्ययन' शीर्षक तय किया।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध को मैंने पाँच अध्यायों में विभाजित किया है और अंत में उपसंहार दिया है।

पहला अध्याय है- **'आदिवासी जीवन'** में आदिवासी की अर्थ और परिभाषा देकर आदिवासी जीवन को व्यक्त किया है साथ ही साहित्य में आदिवासी जीवन किस तरह चित्रित है इसका संक्षिप्त परिचय भी दिया है।

दूसरा अध्याय है- **'साहित्य विधा के रूप में पटकथा का विकास'** में पटकथा के स्वरूप को व्यक्त करते हुए साहित्य और पटकथा का संबंध का भी विस्तृत विश्लेषण किया है।

तीसरा अध्याय है- **'आदिवासी जीवन केन्द्रित पटकथा'** में हिन्दी फिल्मों में चित्रित आदिवासी समाज को उजागर किया है। साथ ही आदिवासी केन्द्रित पटकथा का विस्तृत अध्ययन किया है।

चौथा अध्याय है- **'आदिवासी पटकथा : विश्लेषणात्मक अध्ययन'** में आदिवासी जीवन की समस्याओं को प्रस्तुत किया है। पटकथा में इन समस्याओं को किस तरह चित्रित किया है इसको भी उजागर किया है।

पाँचवाँ अध्याय है- **'आदिवासी उत्थान : पटकथा की भूमिका'** में आदिवासी उत्थान में बाधक तत्वों के ज़रिए आदिवासी पटकथा की भूमिका का समग्र विश्लेषण किया है।

अंत में **'उपसंहार'** के रूप में समग्र अध्ययन का सारांश संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

**परिशिष्ट** में **सहायक ग्रन्थ सूची** संलग्न है।

प्रत्येक अध्याय के अन्त में निष्कर्ष देकर मैंने अपने शोध-प्रबंध को अधिक स्पष्ट, सुगठित एवं मौलिक बनाने का प्रयास किया है। उपलब्ध सभी सामग्रियों को जुटाकर अपने मौलिक विश्लेषण के माध्यम से मैंने प्रस्तुत अध्ययन को यथा साध्य प्रामाणिक और सवाँगपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है।

कालिकट विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के असिस्टेन्ट प्रोफेसर **डॉ. हेरमन. पी.जे** साहब के निर्देशन में मेरा यह शोध-कार्य संपन्न हुआ है। हेरमन जी का विषय चयन से लेकर शोध-प्रबंध के अंतिम दौर तक पथ-प्रदर्शन एवं उचित सहयोग मिलना मेरे लिए सौभाग्य की बात है। शोधकार्य की लंबी प्रक्रिया में उनके सानिध्य से जो प्राप्ति हुई, वह मेरी सबसे बडी पूँजी है। उनका आभार किन शब्दों से व्यक्त करूँ, शब्द छोटा पड रहे हैं।

कालिकट विश्वविद्यालय के विभाग अध्यक्ष **प्रो.डॉ. सुब्रमण्यन जी** के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने सदैव प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया है। विभाग के अन्य अध्यापकों के प्रति भी आभारी हूँ जिन्होंने स्नेहमय व्यवहार से शोधकार्य के लिए प्रेरणा दिया है।

शोध-प्रबंध की प्रेरणा और संपूर्णता में मेरे परिवारवालों का बडा योगदान है। मैं अपने ईश्वर समान माता-पिता का सदैव ऋणि रहूँगी जिन्होंने प्यार और प्रेरणा देकर शोधकार्य संपन्न करने में सहायता की है। साथ ही साथ मेरे बहनें, जीजुओं और उनके बच्चों के प्रति भी आभार व्यक्त करना चाहती हूँ जिन्होंने हर मुश्किल घडी में मुझे संभाला है उनके स्नेहभरे व्यवहार से ही मैं अपने शोधकार्य में सफल हो पायी हूँ।

मेरे इस शोध यात्रा में सदैव मेरे साथ रहे पति, बेटा और उनके परिवारवालों के प्रति भी आभारी हूँ जिन्होंने मुझे हमेशा प्रोत्साहित किया है। खास तौर पर मेरे पति गिरीश कुमार और प्यारे बेटे आरुष के प्रति भी आभारी हूँ जिन्होंने शोधकार्य की तनाव में भी मेरी हर लम्हें को सुन्दर बनाने में साथ रहे।

शोधकार्य में हर वक्त सहायता करनेवाले मेरे प्रिय दोस्तों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने अपने स्नेहमय व्यवहार से मुझे आगे बढने में हौसला दी। विभाग के शोध छात्रों, दफ्तर और पुस्तकालय के कर्मचारियों के प्रति भी विशेष आभार व्यक्त करती हूँ।

इस शोध कार्य का टंकण कार्य करनेवाली श्रीमती षैला जी और उनके बेटे षिदिन को भी धन्यवाद अदा करती हूँ।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध में जो कुछ श्रेष्ठ है वह मेरे गुरु, माता-पिता एवं शुभचिंतकों की कृपा का सुफल है। त्रुटियाँ मेरी अपनी होंगी जिन्हें विद्वतजन क्षमा करें।

विनीता,

**ज्योस्मी. के**
शोध छात्रा
हिन्दी विभाग
कालिकट विश्वविद्यालय

JYOSMI. K. “A STUDY OF TRIBAL LIFE IN HINDI SCREENPLAY”. THESIS. DEPARTMENT OF HINDI, UNIVERSITY OF CALICUT, 2018.

पहला अध्याय

# आदिवासी जीवन

भारत की कुल आबादी के लगभग 8% हिस्से को अनुसूचित जनजातियों के रूप में वर्गीकृत किया गया है। यह शब्द उन जन समुदाय के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिन्हें भारत के राष्ट्रपति ने संवीधान के अनुच्छेद 342 के अधीन अनुसूचित जनजातियों के तौर पर निर्दिष्ट किया है।

भारत के लोग अधिकतर अनुसूचित जनजातियों को आदिवासी कहते हैं। संस्कृत में आदिवासी शब्द का अर्थ है किसी क्षेत्र के मूल निवासी जो आदिकाल से किसी स्थान विशेष में रहते चले आ रहे हैं। आदिवासी भारतीय प्रयद्वीप के सबसे प्राचीन बाशिंदे या मूल निवासी माने जाते हैं। आदिवासियों को अन्य समाजों से अलग करनेवाली सबसे बडी विशेषताएँ हैं- अपने क्षेत्र से उनके ख़ास जुडाव और प्रकृति से अंतरंग संबंध। आदिवासी का क्षेत्र उसकी सामूहिक चेतना का विस्तार होता है जिसका अपना सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक महत्व है। आदिवासी समुदाय अपनी आवश्यकताओं को समुदाय के भीतर ही पूरा करता है और ज़रूरतों के लिये बाज़ार पर कम से कम निर्भर रहता है।

यह गौरतलब है कि भारत के अधिकांश वन, कोयले और अन्य ख़निज पदार्थों के स्रोत और जल विद्युत उत्पादन केन्द्र उस भूमि पर है जो पारंपरिक रूप से आदिवासियों का क्षेत्र रही है। फिर भी उनके क्षेत्र से उत्खनित और उत्पादित इस विपुल संपदा का एक छोटा-सा हिस्सा भी कभी आदिवासियों को प्राप्त नहीं हुआ है। आदिवासी आज भी गरीबी, बेकारी, बेबसी और शोषण के बीच जी रहे हैं।

आदिवासियों के विकास के लिये राज्य सरकार और केन्द्र सरकार ने कई पद्धतियाँ शुरू की है लेकिन वह वे आदिवासी तक कभी पहूँचती ही नहीं है।

आरक्षण के नाम पर उनपर जुल्म हो रहे हैं। विकास के नाम पर अपने ही ज़मीन से आदिवासियों को खदेड रहे हैं।

इन सारी समस्याओं के बावजूद आज आदिवासी अपनी जीविका और संस्कृति पर मंडराते हुए खतरों के प्रति सचेत हो गये हैं। यही नहीं आत्मविश्वास और नये-नये तरीकों से इन समस्याओं से मुकाबला करने की तैयारी में लग गये हैं।

## 1.1 आदिम या आदिवासी का अर्थ

आदिवासी का शाब्दिक अर्थ है- आदिम युग में रहनेवाली जातियाँ। मूलतः यह वे जातियाँ है जो 5000 वर्ष पुरानी भारतीय सभ्यता को संजोए हुए है। यह पूरे भारत में अधिकांश जंगलों, पहाड़ी क्षेत्रों और बस्ती के सीमांत क्षत्रों में और मैदानों में पायी जाती है। यह जातियाँ घूमंतू मानी जाती है। सर्वेक्षण के मुताविक देश की पूरी आबादी का 8.08 भाग आदिवासी है। यानी हर आठ भारतीय में एक आदिवासी है।

आदि और वासी शब्द से 'आदिवासी' शब्द बना है इसका अर्थ है 'मूल निवासी'। इन्हें 'आत्विका' और वनवासी भी कहते हैं। संविधान में आदिवासी के लिए 'जनजाति' शब्द का प्रयोग होता है। महात्मा गाँधी ने आदिवासियों को 'गिरिजन' नाम दिया है। भारत के लोग अधिकतर अनुसूचित जनजातियों को 'आदिवासी' कहते हैं। संस्कृत में 'आदिवासी' शब्द का अर्थ है- किसी क्षेत्र के मूल निवासी जो आदिकाल से किसी स्थान विशेष में रहते चले आ रहे हैं।

भारत में विभिन्न धर्म, जाति एवं सप्रदाय के लोग रहते हैं। सभी की अपनी सांस्कृतिक सभ्यता है, प्राचीन प्रथा-परंपराएँ है, भाषा एवं बोलियाँ हैं। आज़ादी के

पश्चात् लोगों के जीवन स्तर में काफी बदलाव हुआ है। किन्तु सदियों से जंगलों, पहाडों तथा सुनसान जगहों में रहनेवाले आदिवासियों के जीवन स्तर में विशेष बदलाव नहीं है। इसके लिए सरकार एवं विभिन्न सामाजिक संगठनों के द्वारा प्रयास अवश्य किये जा रहे हैं किन्तु अपेक्षित प्रकृति हो नहीं पाती अब भी इस दिशा में प्रयास की आवश्यकता है।

हमारे देश को आज़ाद हुए कई वर्ष बीत गये परन्तु जिन लोगों का या क्षेत्र का विकास नहीं हुआ वह सिर्फ आदिवासी तथा उनका क्षेत्र मात्र है। संपूर्ण विश्व के गुलामी के खिलाफ सबसे पहले आदिवासी खडे हुए थे। स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि अपग्रत, पिछडा, अज्ञानी, समान बोली बोलनेवाला, संस्कृति का रक्षक प्रकृति की गोद में जीवन यापन करनेवाला भारत भू की संतान है 'आदिवासी'।

## 1.2 परिभाषाएँ

कई विद्वानों ने आदिवासी की परिभाषाएँ दी है।

पो गिलानी के अनुसार-"एक विशिष्ट भू प्रदेश में रहनेवाला, समान बोली बोलनेवाला, अक्षरों की पहचान न होनेवाला समूह को आदिवासी समाज कहलाता है।"[1]

जेकब्स और स्टर्न की परिभाषा- "एक ऐसा ग्रामीण समुदाय या ग्रामीण समुदायों का एक ऐसा समूह जिसकी समान भूमि हो, समान भाषा हो और जिस समुदाय के व्यक्तियों का जीवन आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे के साथ ओत-प्रोत हो- जनजाति कहलाता है।"[2]

रिचार्ड के अनुसार- "समूहों की श्रृंखला जब बढती जाती है तब उसका अन्त राष्ट्र में होता है। समूह का यह विकास प्रायः आदिम-जातियों में पाया जाता है। इन आदिम जातियों को हम जानजाति भी कहते हैं। यह एक ऐसा समूह है जो आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर रहता है, समान भाषा बोलते हैं तथा आपत्ति के समय सब मिलकर एक हो जाते हैं।"[3]

भारत के प्रसिद्ध मानव-शास्त्री डॉ.मजूमदार ने जनजाति की अत्यन्त रोचक एवं सुन्दर परिभाषा दी है- "आदिवासी-जनजाति परिवारों तथा पारिवारिक वर्गों का एक ऐसा समूह है जो सामान्य नाम धारण किया हुआ है। इसके सभी सदस्य एक ही भूमि पर वास करते हैं। और एक ही भाषा-भाषी विवाह की प्रथाओं तथा कारोबार संबंधी एक ही नियम का पालन करते हैं। वे आदान-प्रदान संबंधी पारस्परिक व्यवहार को विकसित करते रहते हैं। साधारणतया आदिवासी-जनजाति अन्तर्विवाह-सिद्धान्त का समर्थन करती है और उसके सभी सदस्य अपनी ही जनजाति के अन्तर्गत विवाह करते हैं। कई गोत्र मिलकर आदिवासी की रचना करते हैं। प्रत्येक गोत्र के सदस्यों का परस्पर रक्त-संबंध जुडा होता है। इनमें या तो अनेक लघु वर्ग एक बृहतवर्ग में सम्मिलति हो जाते हैं अन्यथा उनका वंश-परंपरागत सरदार होता है। इस दृष्टि से आदिवासी जनजाति की एक राजनीतिक संघ भी माना जाता है।"[4]

इम्पीरियल गजेटियर ने सरल भाषा में आदिवासी को व्यक्त किया है- "आदिवासी जनजाति परिवारों के एक ऐसे समुदाय का नाम है जिसका एक समान नाम हो, समान बोली हो, जो समान भू-भाग पर रहता हो या उस भू-भाग को अपना मानते हो, और जो अपनी ही जाति के भीतर ही विवाह करते हो।"[5]

रिवर्स ने कम शब्दों में अपनी परिभाषा दी है- ‘‘आदिवासी जनजाति एक ऐसा सख्य सा समूह है जिसके सदस्य एक बोली बोलते हो और जो युद्ध आदि के समय सम्मिलित रूप से कार्य करते हो।’’[6]

गिलिन के अनुसार- ‘‘स्थानीय जाति समूहों का एक-एक ऐसा समुदाय जनजाति कहलाता है जो एक सामान्य क्षेत्र में निवास करता है तथा जिसकी एक सामान्य संस्कृति है।’’[7]

राल्फपिडिंगटन ने जनजाति का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा-‘‘हम एक जनजाति की व्यक्तियों के एक ऐसे समूह के रूप में व्याख्या कर सकते हैं, जो समान भाषा बोलता हो, समान भू भाग में निवास करता हो तथा जिसकी संस्कृति में समानता पायी जाती हो।’’[8]

विलियम पी स्कॉट के अनुसार- ‘‘समान भाषा और संस्कृति वाला ऐसा समूह जिनका अपना विशिष्ट भू-प्रदेश व्यक्त हो और जो अशिक्षित और अपनी परंपरा से जुडे हुए हो उन्हें आदिवासी कहना चाहिए।’’[9]

रमणिका गुप्ता के शब्दों में- ‘‘आदिवासी यानी मूल निवासी यानी भारत का मूल बाशिन्दा इस धरती का पुत्र, धरती और प्रकृति के साथ पैदा हुआ, पनपा, बढा, और सहजीवी बना।’’[10]

प्रभाकर मांडे के अनुसार-‘‘आदिवासी यह संकल्पना है। वनों पहाडियों, घाटियों में रहनेवाली जाति आदिवासी है।’’[11]

डॉ.पी.आर.नायडू की मान्यता है-"उपभोक्ता संस्कृति अथवा मीडिया संस्कृति से कोसों दूर, प्रकृति की गोद में अमन, चैन की ज़िन्दगी व्यतीत करनेवाले आदिवासी है।"[12]

डॉ.नन्ददुलारे वाजपेयी ने- "अविकसित अंचल के निवासियों को आदिम कहा है।"[13]

डॉ.विवेकी राय के शब्दों में-"पिछडे अंचलों, पहाडी वनों में रहनेवाले आदिम है।"[14] उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करते हुए यह पता चलता है वास्तव में आदिवासी प्रत्येक भू-भाग में रहनेवाले, समान भाषा, संस्कृतिवाले एक समुदाय है जो मिलजुलकर रहते हैं। इनकी अपनी एक विशिष्ट भाषा, संस्कृति, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था और परंपराएँ तथा प्रथाएँ होती हैं।

आदिवासी गिरि कंदरों, जंगलों, वनों में समूह बनाकर रहते हैं। सदियों से छला गया, जंगलों से भगाया गया मनुष्य 'आदिवासी' है। भारत के पहाडी इलाकों में आदिवासी रहते हैं। दैत्य, पिशाच, असुर, राक्षस, गिरिजन, वनवासी, जंगली, लंगोटिया, आदिपुत्र, भूमि पुत्र, जंगल के राजा,दास्यु, दास, वन्य जाति, आदिम संतान आदि कई पर्यायी शब्दों का प्रयोग हो रहा है।

आदिम अविकसित होकर भी अपनी संस्कृति की रक्षा करते हैं। भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत आदिवासी संस्कृति में दिखाई देता है। वन में रहनेवाले, भारत भूमि पर प्रेम करनेवाले प्रकृति पूजक, जंगल के दावेदार सच्चे अर्थ में 'आदिवासी' है।

## 1.3 भारत के आदिवासी

भारत की जनसंख्या में सभी व्यक्ति सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से समान नहीं है। विभिन्न आन्तरिक क्षेत्रों में जनसंख्या अपने जीवन के प्राचीन परंपरागत आदिम तौर-तरीकों से निवास कर रही है। ऐसे आदिम परिवारों व समाज पर वर्तमान तकनीकी ज्ञान का सर्वथा अभाव है। ये लोग अभी भी शिकार, कृषि, पशु पालन आदि से जीवनयापन करते हैं। ऐसे लोगों के समूह को जनजाति कहा जाता है। विभिन्न विद्धानों ने ऐसे समूहों को आदिवासी, प्रेतवादी, जनजाति, गिरिजन आदि नाम दिया है।

परंपरा से आदिवासी वनों एवं वन उपज पर आधारित रहे हैं, इनकी वन प्रधान अर्थ-व्यवस्था में कृषि की भूमिका कम रही है। इनका प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण एवं उपयोग भरपूर रहा है।

ये जनजातियाँ प्रो आस्ट्रोलाइटु जैसी प्रजातियों से निकली हैं। ऐसा माना जाता है कि कभी सारे भारत में आस्ट्रोलाइड प्रजाति फैली हुई थी। पूर्वोत्तर भारत की आदिवासी की मंगोल प्रजाति से उत्पन्न मानी जाती है। तीसरा स्रोत नीग्रीटो प्रजाति से माना जाता है। यह विशेषकर अंदमान-निकोबार व भारत के दक्षिणी पश्चिमी क्षेत्रों की जनजाति के लिये है। यह माना जाता है कि, ये मूलवासी द्रविड, आर्य व मंगोल लोगों के आक्रमणों के कारण अपने क्षेत्र छोडा करते गये व आन्तरिक भागों के वन प्रदोशों में ही सीमित रह गये। आक्रमणकारी अधिक संख्या में होने के साथ-साथ हथियारों से भी सज्जित थे, जिसके कारण इन्हें खदेड दिया गया। धीरे-धीरे नवीन आक्रमणकारी लोगों से इनका संपर्क होने के कारण जातीय मिश्रण होने

लगा। कुछ लोग सर्वथा पृथक अस्तित्व बनाये रखने के कारण आज भी अपने आदिवासी रूप में जीवनयापन कर रहे हैं।

भारतीय आदिवासी क्षेत्रों में केवल अंदमान और निकोबार तथा लक्षद्वीप ही भारत की मुख्य भूमि से बाहर है। शेष भारत में आदिवासी मुख्यतः वनों में ही रहते रहे हैं। उनका जीवन वनों की समृद्धि के साथ जुडा रहा। वनों के कटने के साथ ही उन्हें कृषि, पशुपालन या श्रमिक के रूप में कार्य करने को बाध्य होना पडा।

भारतीय आदिवासी भारतीय संस्कृति के जीवन्त भागीदार रहे हैं। हिन्दू धर्म में यहाँ के आदिवासियों के सैकडों सामाजिक और धार्मिक रीति-रिवाज़ और विश्वास अपना लिये गये हैं।

## 1.4 भारतीय आदिवासी : भौगोलिक एवं सामाजिक स्वरूप

भारत की सभी भागों में जहाँ वन प्रदेशों तथा बंजरभूमि के भाग है वहाँ अधिक संख्या में आदिवासी निवास करते हैं। भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 8% भाग इसके अन्तर्गत आते हैं। भारत के सतपुडा, मध्य के पढार, विध्याचल, असम की पहाडियाँ तथा दक्षिणी पहाडी क्षेत्र में आदिवासी पाये जाते हैं। भौगोलिक दृष्टि से आदिवासी क्षेत्र को उत्तरी क्षेत्र, दक्षिणी क्षेत्र, मध्य क्षेत्र और पश्चिमी क्षेत्र के रूप में बाँट सकते हैं।

### 1.4.1 उत्तरी क्षेत्र

उत्तरी क्षेत्र में भारत की उत्तरी पर्वतीय क्षेत्र को शामिल किया जाता है। पूर्व भाग के अरुणाचल, आसाम, नागलैंड के पर्वतीय क्षेत्र भी इसी के भाग है। पूर्वी हिमालय की पूर्व-पश्चिम श्रृंखला के आदिवासियों को इसमें लिया जाता है। इस

क्षेत्र की संपूर्ण जनजातियाँ भारतीय आदिवासी जनसंख्या का 12.33% भाग है। हिमालय के कश्मीरवाले भाग में पशुचारक आदिम जातियाँ, गद्धी, रासम, गुडजर, भेटिया थारू है। सिक्किम और दार्जलिंग में अनेक जनजातियाँ पायी जाती है। जिसमें सर्वाधिक उल्लेखनीय लोपचा है।

इस क्षेत्र के अन्तर्गत गारो, अबोर, आका डफ्ला, मिश्मी, रामा, नागा, चकमा, सिंगफो, खासी, लखेर, रेगपन, अंगेनिम, सेमा आदि जनजातियाँ आती हैं।

### 1.4.2 मध्यक्षेत्र

भारत का मध्यक्षेत्र गारो और राजमहल की पहाडियों द्वारा पृथक होता है। उत्तर में गंगा-सिन्धु से लेकर दक्षिण में कृष्णा नर्मदा तक यह क्षेत्र फैले हैं। इस क्षेत्र में भारत की कुल आदिम जनसंख्या का 81.05% भाग पाया जाता है। इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ- उडीसा में- कोल, गोंड, बोडो, खप्यि, जुआंग आदि आते हैं। छोटा नागपुर के पठोरी भाग में मुंडा, संथाल, डरॉव, हॉस आदि पाये जाते है। विध्यांचल पहाडी में कटकारी, कोल और भील प्रमुख है। दक्षिणी आन्ध्रप्रदेश वे उससे मिले मध्यप्रदेश के जिलों में गोंडा का सबसे बडा समुदाय पाया जाता है। सतपुडा पहाडियों में कोरकू, अंगरिया, बैंगा आदि प्रमुख है। गुजरात में भील, काल जनजातियाँ पाया जाते हैं। बस्तर जिला आदिम जातियों का गढ़ है। मुरियाँ, अबूझमार, पहाडी मुरियाँ, बिसन हनि मुरिया आदि प्रमुख है।

### 1.4.3 पश्चिमी क्षेत्र

भारत का पश्चिमी क्षेत्र मध्य पश्चिम राजस्थान से होकर दक्षिण में सह्याद्रि तक का पश्चिमी प्रदेश है। पश्चिमी क्षेत्र में भील, ठाकुर, कटकरी आदि जनजाति निवास करते हैं।

### 1.4.3 दक्षिण क्षेत्र

इस क्षेत्र में कर्नाटक, केरल, तमिलनाड और दक्षिणी आंध्रप्रदेश आते हैं। भारत की कुल आदिम जातियों का 6.49% भाग इस क्षेत्र में पाया जाता है। आंध्रा के तलाई, मल्लाई पहाडियों के निचले भागों पर चेंचू, कांघ, येन्दी, गदबा, सवरा, कोडारेड्डी आदि निवास करते हैं। भारत की प्राचीनतम आदिम जातियाँ अडियार, कुरिच्यर, पनियन, कुरुम्बा, नयकुरुक्कन, कुरुमर, मलपुलयन, टोडा, बेडा, कदार, गोडी, हॉल्वा, इरुवल्लान आदि जनजाति निवास करते हैं।

इन क्षेत्रों के अलावा आंडमान निकोबार द्वीप समूह में भी आदिवासी निवास करते हैं। इस क्षेत्र में जरावा, उत्तरी सेटियों, अंदमानी और निकोबारी जनजातियाँ रहती है। यद्यपि इन जातियों की संख्या कुल आदिवासी जनसंख्या की दृष्टि से नगण्य है। फिर भी इस एकांकी क्षेत्र का महत्व है। भारतीय जनसंख्या में सामान्यतया प्रजातियों का मिश्रण पाया जाता है। आदिवासी जनसंख्या भी उसी के अनुरूप विभिन्न-प्रजातियों के मिश्रण पाया जाता है। आदिवासी की पृथकता के कारण मिश्रण कम हो पाया है, जिससे प्रजाति का मौलिक स्वरूप सभ्य समाज से अधिक मिलता है।

## 1.5 भारत के प्रमुख आदिवासी जातियाँ

विश्व का प्रत्येक मानव समूह आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अनेक समुदायों एवं स्तरों में विभाजित है। भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में यह विभेद भारतीय समाज की अभिन्न विशेषताओं के रूप में सदैव से विद्यमान रहा है। सामाजिक आधार पर यद्यपि जाति संरक्षण हमारे समाज की अभिन्न विशेषता रही है,

लेकिन सामाजिक विकास के संपूर्ण इतिहास में ऐसा कोई युग नहीं मिलता जिसमें आर्थिक आधार पर भी भारतीय समाज धनी-निर्धन, शोषक-शोषित तथा विकसित-अविकासित जैसी श्रेणियों में विभाजित न रहा हो।

भारत में जनजातियों का जीवन एक लंबी अवधि तक उपेक्षित तथा शोषित रहने के पश्चात् भारत के संविधान में जब कल्याण राज्य एवं समाजवादी अवधारणाओं के संदर्भ में अविकसित तथा पिछडे हुए समूहों के जीवन का पुनर्मूल्यांकन किया गया तो जनजातीय समूहों को भी एक विस्तृत अनुसूची तैयार की गयी, ताकि उनकी समस्याओं का उन्हीं के परिवेश में एक महत्वपूर्ण समाधान प्रस्तुत किया जा सकें। इसी परिप्रेक्ष्य में इन्हें अब अनुसूचित जनजाति कहा जाने लगा है।

भारतीय समाज विभिन्न प्रजातीय समूहों का संगमस्थल रहा है। समय-समय पर भारत में विभिन्न समूह प्रवेश करते रहे लेकिन कालान्तर में ऐसे सभी समूहों की सांस्कृतिक परंपराएँ भारतीय समाज का अभिन्न अंग बन गयी। इसके पश्चात् भी इनमें अनेक मानव समूह ऐसे थे, जिन्होंने बाह्य सभ्यता के कुछ तत्वों को ग्रहण करने के पश्चात् भी अपनी मौलिक सांस्कृतिक विशेषताओं को नष्ट नहीं होने दिया। साधारणतया ऐसे समूहों को ही हम 'जनजाति' के नाम से संबोधित करते हैं। ये जनजातियाँ प्रायः साधन संपन्न समाज में दूर जंगली, पहाडी, पठरी या मैदानी क्षेत्रों में निवास करती हैं और प्रत्येक अर्थ में अत्यधिक पिछडी हुई है। जनजातियों को 'आदिम' तथा 'खानाबदोश' मानकर लंबे समय तक अवहेलना की जाती रही।

भारत में विभिन्न तरह के आदिवासी निवास करती है। भाषा, रीति-रिवाज़, रहन-सहन एवं दैनिक गतिविधि के आधार पर इसकी अलग-अलग पहचान है। भारत के प्रमुख आदिवासी जातियाँ निम्नलिखित है-

### 1.5.1 गोंड आदिवासी

भारत के सबसे प्रमुख जनजाति गोंड है। गोंड स्वयं को 'कोयतोर' कहते हैं। गोंडों की अनेक उपजातियाँ भी है। 'गोंड' का अर्थ है 'पर्वत में रहनेवाला'। कृषि और वनोपज से गोंड आदिवासी अपनी जीविका चलाते हैं। उनकी आर्थिक स्थिति कमज़ोर है। ज्यादातर लोग अशिक्षित है। गोंड स्त्रियाँ अपने शरीर पर गोदन करती हैं। मोटे अनाज, फल, मछली, मांस, जंगली फंद-मूल खाते हैं। मद्यपान के कारण गोंडों में गरीबी की समस्या आते है।

गोंड आज भी साहुकारों के ऋण से ग्रसित हैं। ज़मीन्दारों द्वारा उनका हमेशा शोषण होता है। पिता की मृत्यू के बाद संपत्ति का उत्तराधिकारी पुत्र होता है। अगर पुत्र न हो तो भाई या भतीजे को मिलेगा। इनमें से कोई न तो संपत्ति बेटी को मिलती है।

### 1.5.2 संथाल आदिवासी

भारत के आदिवासियों में जनसंख्या की दृष्टि से संथाल दूसरे स्थान पर है। संथाल आदिवासी मूलतः बंगाल, उडीसा और उडीसा के पर्वतीय क्षेत्र में निवास करते हैं। संथाल समाज पितृसत्तात्मक है। अतः पैतृक संपाली का अधिकारी पुरुष ही रहता है। कृषि पर निर्भर है और पशुपालन से भी जीविका चलाते हैं। आर्थिक तंगी, व्यवसाय और रोजगार का अभाव तथा अंधविश्वास के शिकार होने से आर्थिक रूप से अत्यंत गरीब है।

संथाल प्रकृति पूजक है। 'सरना' धर्म के अनुयायी है। संथाल अपने गोत्र में विवाह नहीं करता। तलाक और पुनर्विवाह का चलन है। पुनर्जन्म में विश्वास रखते

हैं। चावल, मांस, मछली आदि खाते है इसके अलावा चूहे, मेंढक, कौआ, सॉप आदि को भी खाते हैं। संथाल आदिवासी चावल से बनी मदिरा पीते हैं जिसे 'हंडिया' कहते हैं। ये भी जादू-टोना झाड-फूक, भूत-प्रेत आदि में विश्वास रखते हैं।

### 1.5.3 भील आदिवासी

भारत में आदिवासी आबादी के लिहाज से भील तीसरे स्थान पर है। 'भील' का अर्थ है तीर या धनुष। भीर मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र में निवास करते हैं। उनकी सामाजिक व्यवस्था का संचालन पंचायत करते हैं। भीलों में संगोत्रीय विवाह निषिध है। परंपरागत विवाह प्रथा, गंधर्व विवाह, अपहरण विवाह, प्रेम विवाह, विधवा विवाह इत्यादि होते हैं। कृषि, शिकार, वनोपज, मछली आदि से जीविका चलाते हैं। उनका प्रमुख्र देव बाबदेव है लिख्रे इन्द्रदेव भी कहते हैं। अकाल के समय भील धर्म परिवर्तन से ईसाई बन गये। भील युवक-युवति गुदना गुदवाते हैं। भीलों का मुख्य भोजन मक्का व वनोपजी जडें या फल है। भील मांसाहारी भी है। शराब पीते है लेकिन आजकल शराब के बदले चाय पीना शुरु किया है। भील पहाडियों में रहते हैं। अंधविश्वासी है।

### 1.5.4 उराँव आदिवासी

उराँव जाति अपने आपको 'कुडुख्र' कहलाना अधिक पसंद करते हैं। यह झारख्रंड के राँची, गुमला, लोहदरगा, लातेहार, गढवा, हज़ारीबाग, संथाल परगना, बिहार आदि जिल्लों में निवास करती है। अन्य आदिवासियों की तरह उत्सव प्रिय है। इनका संबंध द्रविड परिवार से है। कृषि पर निर्भर है। इनकी भाषा 'कुडुख्र'

है। उराँव मिट्टी के झोपडे बनाकर रहते हैं। ये पशु, मुर्गा, सुअर को भी पालते हैं। उनकी प्रमुख देवता 'धर्मेश' है।

### 1.5.6 गारो आदिवासी

देश के पूर्वोत्तर राज्य मेघालय में गारो आदिवासी निवास करते हैं। वे पहाडियों में रहते हैं। गारो, खासी और जयलिया पहाडिया से मिलकर ही मेघालय का पर्वतीय राज्य बना है। गारों तथा खासी इस प्रदेश की प्रमुख जनजाति है। दोनों जनजाति में मातृसत्ता पद्धति है। इनमें बाल विवाह का चलन पाया जाता है। काफी लोगों ने धर्म परिवर्तन कर ईसाई धर्म स्वीकार किया है।

### 1.5.7 मिज़ो आदिवासी

मिज़ोराम की प्रमुख जनजाति है 'मिज़ो'। पहाडियों की चोटि पर निवास करते हैं। मिज़ो समाज पुरुषप्रधान व्यवस्था का पालन करते हैं। सबसे छोटा बेटा संपत्ति का वारिस होता है। बडा बेटा शादी करके अलग घर बसाता है। छोटा बेटा माता-पिता के देखमाल करके घर पर ही रहता है। मिज़ो समाज अंधविश्वासी है। पुर्नजन्म में विश्वास रखते हैं।

### 1.5.8 हो आदिवासी

यह बिहार की प्रमुख जनजाति है। बिहार के अतिरिक्त उडीसा, सिरायकाल तथा खर्सवान में पाये जाते हैं। हो आदिवासी मुंडारी भाषा बोलते हैं। फसल आने पर यह पितृ-पूजा करते हैं। ये योद्धा जनजाति के रूप में भी जाने जाते हैं। इन्होंने शोषण के विरुद्ध अंग्रेज़ों से विद्रोह किया था।

### 1.5.9 कोरकू आदिवासी

कोरकू मध्यप्रदेश के छिंदवाडा, होशांगाबाद, खंडवा, बैतूल आदि जिलों में निवास करती है। इसकी प्रमुख उपजातियाँ है- मोवासी, रूमा, बवारी, नहाला, बोडोया आदि। कोरकू जनजाति कृषि, मज़दूरी और वनोपज से अपने पेट पालते हैं। हिन्दू देवी-देवता का पूजा करते हैं। वधु मूल्य का प्रचलन है। तलाक व विधवा विवाह का भी प्रचलन है।

### 1.5.10 सहरिया आदिवासी

सहरिया मध्यप्रदेश के गुना, शिवपुरी, मुरैना जिले में निवास करते हैं। ये लोग कन्दमूल और शहद एकत्रित करके अपनी जीविका चलाते हैं और जंगल में ही रहते हैं। कुछ लोग मज़दूरी भी करते हैं। जंगलों से जडी-बूटी एकत्र कर दवाएँ बनाने में पक्ष है। ये हिन्दू देवी-देवता का पूजा करते हैं।

### 1.5.11 अगरिया

यह गोंडों की उप जनजाति है। ये मध्यप्रदेश के मंडला तथा शहडोल जिलों में निवास करते हैं। इनके देवता लोहासुर है। ये लोहा बनाते हैं। वधुमूल्य का चलन अगरिया जनजाति में पाये जाते हैं। विधवा विवाह की मान्यता भी है। ये अपने देवता को खुश करने के लिये काली मुर्गी की भेंट चढाती हैं।

### 1.5.12 असुर आदिवासी

झारखंड की अत्यन्त प्राचीन अल्पसंख्यक जनजाति है 'असुर'। इनकी भाषा मालेय तथा असुरी भाषा बोलते हैं। संयुक्त परिवार, बर्हिगोत्रीय विवाह, तथा

बहुदेवतावाद इनकी विशेषता है। वधु मूल्य देने की प्रथा है। सिंगाबोगा की आराधना करते हैं। कुछ असुर ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया जिन्हें जाट असुर कहा जाता है। कन्द मूल, फल-फूल, मांस और साँप को भी खाते है। कृषी पर निर्भर जीविका चलाते हैं।

### 1.5.13 बंजारा आदिवासी

बंजारा एक यायावर जनजाति है। राजस्थान इनका मूल निवास माना जाता है। झारखंड में संथाल परगना क्षेत्र के विभिन्न जिलों में बंजारे लोग निवास करते हैं। ये पितृसत्तात्मक व्यवस्था अपनाते हैं। बर्हिगोत्रीय विवाह होता है। इनका देव "शिव मैया' है। ये संगीत प्रेमी है और इनका आर्थिक व्यवस्था संगीत से जुडा होता है।

### 1.5.14 भूमिज आदिवासी

भूमिज जनजाति सिंहभूम, राँची, धनबाद, हजारीबाग एवं अन्य जिलों में रहते हैं। इनका परिवार पितृसत्तात्मक है। ये अंधविश्वासी है। इनका देव सूर्य है। इनमें बर्हिगोत्रीय विवाह का चलन है।

### 1.5.15 सौरिया पहाडिया आदिवासी

सौरिया पहाडिया झारखंड के संथाल परगना प्रमंडल के साहेबगंज, गोड्डा और दुमका जिले में निवास करती है। इसके अतिरिक्त सहस्सा, फाटीहार, भागलपुर तथा सिंहभूक जिले में भी पाये जाते हैं। अपनी भाषा को 'मालतो' कहती है। इनकी बस्तियाँ पहाडों पर होती है। एक पत्नी विवाह प्रचलित है परन्तु बहुपत्नी विवाह का उदाहरण मिलता है। संपत्ति का आधिकारी पुत्र होता है। इनका देव 'लौहू

गोसाई' है। मुखिया 'मांझी' कहलाता है। इस जनजाति की अर्थ व्यवस्था कृषि पर आधारित है।

### 1.5.16 खडिया आदिवासी

ये लोग झारखंड में राँची, गुमला, एवं सिंहभूम जिले में पाये जाते हैं। खडिया आदिवासी तीन प्रकार के हैं- पहाडी खडिया, दूध खडिया और ढेलकी खडिया। खडिया समाज में पितृसत्ता है। स्त्री पति के अधीन है फिर भी बच्चों को पालना तथा गृह-कार्य में उनका समुचित अधिकार और कर्तव्य है। खडिया पुर्नजन्म में विश्वास करता है। कृषि पर निर्भर रहते हैं।

### 1.5.17 माल पहाडिया आदिवासी

यह जनजाति लोग मुख्यतः झारखंड के संथाल परगनना प्रमंडल के दुमका जिले में मिलते हैं और थोडी संख्या में सिंहभूम, पूर्णिया, भगलपुर, सहस्सा जिलों में भी पाये जाते हैं। इनकी भाषा माल्ये है, जो द्रविड परिवार की मानी जाती है। माल पहाडिया का परिवार पितृसत्तात्मक होती है। संपत्ति का उत्तराधिकारी पुत्र होता है। पुत्र न हो तो संपत्ति पुत्री को मिलती है। विवाह कन्या मूल्य देकर करते हैं। इनमें देवर-भाभी और जीजा-साली विवाह होता है। विधवा विवाह का भी प्रचलन है। इनके देवता सूर्य है। ये पुर्नजन्म में विश्वास रखते हैं। कृषि और पशु पालन से जीविका चलाते हैं। आर्थिक स्थिति इनकी कमज़ोर है। महाजन के कर्ज़ और भारी सूप ही इसका कारण है।

### 1.5.18 बिरहोर आदिवासी

बिरहोर झारखंड की आदिम जनजाति मानी जाती है। ये मुख्यतः दो समूहों में बाँटा है- उथालों और जाघी। उथालों मुख्यतः यायावर जनजाति है। जाघी लोगों

ने निष्क्रिय जीवन अपना लिया है। इनकी देवता 'बोरा बोग' है। बिरहोर की अर्थव्यवस्था वनोपज कन्दमूल और फल के अतिरिक्त शिकार पर भी निर्भर है। वे रस्सती, स्नेहा, नरकुल आदि बुनते हैं। लकडी के चीज़े भी बनाते हैं। इसे बेचकर आजीविका चलाते हैं। बन्दरों को पकडना उनकी जीविका का अन्य साधन है।

### 1.5.19 मुंडा आदिवासी

मुंडा आदिवासी झारखंड की प्रमुख जनजाति है। इनकी भाषा मुंडारी है। प्रत्येक गाँव का मुखिया मुंडा कहलाता है। मुंडा आदिवासी प्रमुख रूप से राँची, पलामु, गुमला, सिंहभूम, संथाल परगना, गिरिदीह के साथ बिहार राज्य के रोहतास, भभुआ, बक्सर, भोजपुर और पूर्णिया में भी निवास करती है। इन लोगों ने भी अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह किया था। पलामू विद्रोह, बक्सर विद्रोह, सिंहभूम विद्रोह आदि बिरसा के नेतृत्व में किये गये सबसे बडे विद्रोह है।

### 1.5.20 कोलाम आदिवासी

महाराष्ट्र के यवतमाल जिले में कोलाम आदिवासी निवास करते हैं। इनकी भाषा कोलगी से काफी मिलती-जुलती है। ये लोग मैठूर, महाकाली, नाईक, पिस्ता आदि देवी देवताओं की पूजा करते हैं। इनका प्रमुख आहार कंदमूल, चावल तथा फल हैं। ये लोग मांसाहारी होते हैं। इनमें वधु हरण की प्रथा है। ये लोग हमेशा समूह में रहते हैं।

### 1.5.21 ख्रासी आदिवासी

ख्रासी बंगलादेश के पूर्व में पहाडिया तथा पश्चिम में गारो पहाडियों पर निवास करती है। मातृसत्तात्मक व्यवस्था है। माँ की तरह छोटी बेटी को भी अग्रणी

स्थान दिया जाता है। माँ का दाह-संस्कार छोटी बेटी करती है। यह प्रकृति प्रेमी है। युद्ध कला में निपुण है। इनकी अपनी लिपि नहीं है। स्त्रियाँ भी व्यापार कुशलता से चलाती है।

### 1.5.22 बुगुन आदिवासी

बुगुन आदिवासी मंगोल-मूल के निवासी हैं। यह अत्यंत पिछडे हुए आदिवासी है। ये सरल, भद्र तथा ईमान्दार होते हैं। खेती मुख्य व्यवसाय है। इनमें बहुपत्नीत्व का चलन है। इनका प्रमुख त्यौहार 'कश्यात-सोबई' है। शिक्षा के कारण इनके जीवन शैली में सुधार हो रहा है।

### 1.5.23 सिंहाओ आदिवासी

सिंहाओ जनजाति अरुणाचल के जिलों में निवास करती है। ब्रह्मपुत्र घाटी में बसने के कारण इन्हें 'सिंहाफो' कहा जाता है। इनकी भाषा भी 'सिंहाफो' है। इनमें संयुक्त परिवार की परंपरा के साथ ही पुरुष प्रधान संस्कृति का अवलंब किया जाता है। 'सिंहाफो' का अर्थ है 'मनुष्य'। सिंहाफो जनजाति के साथ ही अरुणाचल में पायी जाने वाली जनजातियाँ हैं- शेरदुफेन आदिवासी, मेंबा और खंबा आदिवासी, नेक्ते आदिवासी, वांचा आदिवासी, तांग्सा आदिवासी तथा भिश्मी आदिवासी आदि। जिनके अपने रीति-रिवाज़ एवं परंपराएँ हैं।

### 1.5.24 नागा आदिवासी

नागा आदिवासी भारत की प्रमुख जातियों में से एक है। इनकी अपनी भाषा तथा स्वतंत्र पहचान है। यह जनजाति संपूर्ण नागालैंड में व्याप्त है। नागा पहाड के चोटियों में निवास करते हैं। प्रत्येक नागा समूह की अपनी बोली तथा पोशाक है।

नागाओं का युवागृह 'मोरंग' नाम से जाना जाता है। वह पाठशाला के अतिरिक्त मनोरंजन का केन्द्र भी है। युद्ध तथा अनेक प्रकार के प्रशिक्षण प्रदान करते हैं। जो अनुशासन का पालन नहीं करता उसे दंडित होना पडता है।

नागा आदिवासियों के प्रकार हैं- लोथा नागा, चांग नागा, सेमा नागा, जीमी नागा, अंगामी नागा और चकेसांग नागा।

आदिवासी जनसंख्या कहने के तो 85 प्रतिशत है पर हमारे इतिहास में कहीं भी उसका नामोनिशान नहीं है। यहाँ के अधिकतर इतिहासकार भी उसे अल्पसंख्यंक वर्ग से संबंध रखते हैं, वे शासक भी हैं। उन्होंने भारत के मूल निवासियों के गौरवसाली इतिहास को बिल्कुल अनदेखा कर दिया है। वामन मेश्रान का कथन है- "आदिवासी जंगल में रहता है और उसको कुछ दिन के बाद वहाँ से बेदखल कर दिया जाता है। क्योंकि उसके पास कोई सबूत या पट्टा ही नहीं है।"[15]

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों में निवास करनेवाले आदिवासी समाज एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। प्रत्येक आदिवासी की अपनी निजी विशेषताएँ होती है। सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्तर भी भिन्न है। जनसंख्या की दृष्टि से कुछ आदिवासी समुदाय की संख्या बहुत आधिक और कुछ की अपेक्षाकृत बहुत कम है। प्रत्येक आदिवासी समुदाय के अपने सामाजिक नियम और निषेध होते हैं। अपने जाति पंचायत रहते हैं, धर्म होते हैं और परंपरागत व्यवसाय होते हैं।

र्दुभाग्य की बात है कि आदिवासी जो भारत के मूल निवासी है आज गरीबी, निरक्षरता, बेरोज़गारी, बीमारियों, शोषण, अत्याचार और भूमिहीनता से ग्रस्त है।

डॉ.अंबेडकर की कथन से यह व्यक्त होता है- "ये आदिम जातियाँ शिक्षा का पूर्ण अभाव होने, विज्ञान की कुछ भी भनक न होने, प्रकृति के क्रियाकलाप की कुछ भी जानकारी न होने, अज्ञान और अंधविश्वास से ग्रस्त होने के कारण सभ्यता की सीमा रेखा से बाहर और उसकी स्थापित व्यवस्था के अनुसार सदियों से जंगली जीवन बिताती आ रही हैं।"[16]

## 1.6 आदिवासी समाज

विशिष्ट भूप्रदेश में रहना, अपनी वाली का प्रयोग करना, सामान्य वित्तीय व्यवस्था को अपनाना, धर्म संबंधी प्राचीन मान्यता को मानना सामूहिक एकता, मुखिया, ओझा की महत्व देना वनों पर निर्भर रहकर जीवनयापन करनेवाले पिछडे समाज आदिवासी है। सभी सुविधा से दूर ये आदिवासी जंगलों, वनों, गिरिकंदरों में रहते हैं। शिकार करना, वनोपजों, वनौषधियों को बेचना उनका व्यवसाय है। सदियों से सभ्यता, संस्कृति, विज्ञान से सुदूर रहने से अपगत रहे हैं। गरीबी, अज्ञान, अर्थाभाव, शोषण, व्याधियाँ उनके साथी हैं।

आदिवासियों के जीवन में बडे परिवर्तन भारत में ब्रिटिश औपनिवेशक सत्ता के आगमन के बाद शुरु हुए। औपनिवेशिक युग के पूर्व आदिवासियों की अपनी स्वतंत्र सत्ता थी। जल, जंगल, ज़मीन और प्रकृति के संसाधनों पर उनका अधिकार था। परन्तु जैसे-जैसे साम्राज्यवादी ताकते बढती गयी, औपनिवेशिक सत्ताएँ मज़बूत होती गयी वैसे-वैसे आदिवासियों का शोषण और उनपर अत्याचार बढता गया। उनके संसाधनों पर ज़बरन कब्ज़ा किया जाने लगा। यह भी कि अपनी स्वायत्तता और अस्मिता के लिये जितना और जिस व्यापक पैमाने पर आदिवासियों ने विद्रोह किया, उतने देश किसी अन्य तबके ने नहीं किया। पूर्वोत्तर में सात राज्यों का गठन

और कुछ वर्षों पूर्व झारखंड, छत्तीसखंड, उत्तराखण्ड का गठन आदिवासी अस्मिता की लडाई का सबूत है।

आज अगर सबसे बडा खतरा आदिवासी समुदाय को है तो वह है उसकी पहचान मिटने का। स्वतंत्र भारत के संविधान में भी आदिवासी समुदाय के लिये ढेरों योजनाएँ बनाई गई हैं। उनकी कला को तो तथाकथित सभ्य समाज ने सराहा परन्तु दुर्भाग्यवश उनकी सभ्यता और संस्कृति को समझना, उनके अधिकारों के औचित्य को समझने का प्रयास न के बराबर हुआ। परिणाम स्वरूप सवैधानिक प्रावधनों के बावजूद इस समुदाय की समुन्नति का स्वप्न साकार नहीं हो सका।

आदिवासियों को भारतीय नागरिकता से भी वंचित रखा गया। क्योंकि जब भी भारत की जनगणना होती है तो इन्हें गैर आदिवासी बना दिया जाता है। और तर्क यह दिया जाता है कि यह लोग सदैव एक स्थान पर नहीं रहते। रोजगार के लिये भटकते रहते हैं।

यह हकीकत है कि इस धारा का मूल निवासी आदिवासी होने के भावजूद तथाकथित सभ्य समाज की बर्बरता से यह समुदाय जंगलों, कंदराओं में रहने के लिये विवश रही। उनकी ज़मीन छीन ली गयी, उनके जंगल के अधिकारों को भी रौंदा गया। प्रकृति से समायोजित होकर यह समुदाय जल, जंगल और ज़मीन के किसी कोने में दुबका रहा। विकास और सुविधा संसाधन से वंचित रहा। परन्तु दर-ब-दर विस्थापित होने के बावजूद इस समुदाय ने अपनी संस्कृति, सभ्यता, भाषा को कभी नहीं छोडी। लाभ-लोभ की प्रवृत्ति से दूर रहकर आदिवासी समुदाय ने सदियों से जंगल में कंद मूल फल खाकर, पोखरों, झरनों का पानी पीकर जीवनयापन करते

रहे। आत्माभिमान सहित अपनी भाषा, संस्कृति और जीवन शैली को ज़िन्दा रखते हुए जी रहे हैं।

आदिवासी विमर्श की अग्रणी डॉ.रमणिका गुप्ता के शब्दों में-"अस्तित्व अस्मिता और आत्मसम्मान उनके लिये अनिवार्य है। अस्मिता की रक्षा के लिये उनकी भाषा और संस्कृति का ज़िदा रहना ज़रूरी है तो अस्तित्व के लिये ज़रूरी है जल, जंगल और ज़मीन का होना। जल, जंगलविहीन आदिवासी की कल्पना करना ही असंभव है।"[17]

लगातार शोषण और विस्थापन के शिकार रहने के कारण ही इस समुदाय में आक्रोश का भाव तीव्र होता रहा। जैसे-जैसे आदिवासी वर्ग शिक्षा और नागरी परिवेश से परिचित हुआ, उसे अपने मूल्य और वजूद का एहसास सालने लगा। आदिवासी अपने को छला हुआ, विकास की मुख्यधारा से वंचित और समाज का बहिष्कृत हिस्सा समझने लगा। उसमें अपने शोषण का बोध जैसे-जैसे बढ़ता गया वैसे-वैसे उसने सभ्य जातियों के अत्याचार के विरुद्ध बगावत का रास्ता अख्तियार किया। अपनी उपेक्षा और अन्याय के विरुद्ध आदिवासी समुदाय प्रतिरोध करता रहा। देश के अनेक हिस्सों में आदिवासी विद्रोह की लंबी परंपराएँ रही हैं। 'मिशन विद्रोह' जैसे आन्दोलन से आदिवासी समाज की तडप, बेचैनी और संघर्ष का अंदाज़ा लगाया जा सकता है। तीर और कमान आदिवासी की पहचान रहे हैं, आज यह पहचान कलम की शक्ति के रूप में उद्‌घाटित हो रही है। जैसे-जैसे जागरूकता और चेतना बढ़ रही है, ज्ञान की रोशनी से जंगलवासी परिचित हो रहे हैं, वैसे-वैसे उनमें अपने स्वत्व का बोध और अस्मिता का भाव दृढ़ होता जा रहा है। जीवन के

बुनियादी हकों के लिये वे संगठित रहे हैं, कलम की ताकत उनके संगठन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है।

आदिवासी लेखन में उनके अस्तित्व और अस्मिता, परंपरा, रूढियाँ, संस्कृति, अन्याय, अत्याचार, अपमान, शोषण आदि का बयान हो रहा है। लोककला, संगीत, नृत्य, संस्कृति, भाषा, बोली आदि आदिवासी लेखन का व्यापक हिस्सा बन रहा है। चूँकि इसकी लिपि और भाषा को लंबे अरस्सों तक पहचान ही नहीं मिल सकी इसलिए उनका संरक्षण और विकास भी बंधित हुई। पर इसके बावजूद इस समुदाय ने अपनी संस्कृति, सभ्यता और अस्मिता के प्रतीकों को जीवित रखा। प्रतिष्ठित मराठी आदिवासी साहित्यकार वाहरू सोनवणे का यह कहना है कि- "लिखित ही केवल साहित्य होता है यह कहना आदिवासियों की दृष्टि से असंगत है। साहित्य और कला साहित्य और जीवन के बीच जो दीवारों का आदिवासी समाज में कुछ भी स्थान नहीं है। इन व्याख्याताओं को बदलना ज़रूरी है क्योंकि आज आदिवासी समाज में कई प्रथाएँ लोकगीत और नाटक तथा अनेक अन्य कलाएँ विद्यमान हैं जिसे शब्दबद्ध नहीं किया गया है। हज़ारों वर्षों से चली आ रही परंपराएँ कभी धमी नहीं। वे परंपराएँ आज भी मौलिक रूप में आदिवासी जीवन का अभिन्न अंग रही है। फिर इसे साहित्य कैसे नहीं कहेंगी।"[18] ऐसे दलील इस बात की आवश्यकता जता रही है कि आदिवासी साहित्य को सही परिप्रेक्ष्य में देखने की ज़रूरत है। यह सच है कि लोककला आदिवासी जीवन का प्राण है। आज भी बहुत सी लोक कलाएँ लिपि विहीन भाषाओं में होने के कारण संरक्षित नहीं हो सकती है। यदि इन्हें भाषा और लिपि दी जा सके तो निश्चय ही न सिर्फ इससे धरती को मूल निवासियों की

संस्कृति, सभ्यता के अनछुए पहलुओं से परिचय प्राप्त हो सकेंगा अपितु भारतीय संस्कृति के समग्र परिदृश्य को जानने-समझने का मार्ग भी प्रशस्त हो सकेगा।

दलित साहित्य की तुलना में आदिवासी साहित्य पर बहुत कम मात्रा में काम हुआ है। दलित को भारतीय समाज का अंग होते हुए भी भारतीय समाज से बहिष्कृत किया गया। पर बेचारे आदिवासी तो उस समाज का और सभ्यता का अंग होकर भी उस मुख्यधारा से अलग कर दिए गये। दलितों में कुछ नेता वर्ग उभर कर आये उनके कारण जनजागृति हुई और वे अपनी व्यथा कथा, यातना, अत्याचार, अन्याय को वाणी देने लगे। उन्होंने अपनी कलम द्वारा अपनी यातनाओं को उद्घोषित किया। जिससे विपुल मात्रा में दलित साहित्य देखा जाता है। पर आदिवासी को समाज से बिल्कुल अलग थलग कर दिया। कलम ही एक ऐसी ताकत है जिसके द्वारा हम अपनी अभिव्यक्ति को साहित्य की दिशा देते हैं और एहसास दिलाते हैं। "अभिव्यक्ति की ताकत अगर मनुष्य को पशु से भिन्न बनाती है तो साहित्य उसे दिशा देता है और अहसास दिलाता है कि वह मनुष्य अकेला नहीं बल्कि एक समाज का अंग है और प्रतिबद्ध साहित्य समाज को गतिशील बनाता है-जड नहीं।"[19]

साहित्य ही हमारे समाज का दर्पण होता है। लेकिन आज तक साहित्य ने आदिवासियों को कलम द्वारा उद्घाटित नहीं किया। आदिवासी खदेडे गये, टगे गये, विस्थापित कर यायावरी बंजारों जैसी ज़िन्दगी जीने पर बाध्य कर दिये गये। इनकी ज़रूरत थी जंगल, जल, ज़मीन और सामंतों-महाजनों और ज़मीन्दारों से मुक्ति। उनका स्वाभिमान उन्हें आबादी से दूर जंगलों में ले आया।

महाभारत-रामायण काल से लेकर आज तक जो भी साहित्य इतिहास रचा गया उसमें कहीं पर भी आदि निवासी की ओर किसी का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। जहाँ महाभारत के सिर्फ एक बार एकलव्य को देखते हैं या सुनते हैं जो जंगल निवासी भील राजकुमार था। तो रामायण में निर्बंध राजा को सुनते हैं। उसके बाद किसी साहित्यिक रचना में आदिवासी का उल्लेख नाममात्र को भी नहीं मिलता।

जहाँ भारत के हर हिस्से और हर वर्ग के चेहरे पर विकास की झलक देखी जा सकती है, वहाँ इन सबसे तिरस्कृत समाज का एक ऐसा वर्ग है जो आज भी हज़ारों साल पुरानी अपनी परंपरा और संस्कृति से चिपका हुआ है। ऐसा नहीं है कि आदिवासी संख्या में कम हैं इनकी संख्या काफी मात्रा में है लेकिन विकास के साधनों की बयार या योजनाएँ अभी तक इनके पास पहूँच नहीं पाता।

वास्तव में आदिवासी एक सामान्य प्रकार का समूह है, जिनके सदस्य सामान्य बोली का प्रयोग और युद्ध जैसे सामान्य उद्देश्यों के लिए या शत्रु का मुकाबला करने के लिए साथ मिलकर कार्य करते हैं। इनकी अपनी एक विशिष्ट भाषा, संस्कृति, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था और परंपराएँ तथा प्रथाएँ होती हैं।

आदिवासी पहाडियों में अलग रहती हैं और जहाँ वे मैदानों में रहती हैं वहाँ उनका अलग अस्तित्व होता है और वे लोग मुख्य धारा के साथ मिलते नहीं है। इस वर्ग की खासियत यह है कि वे किसी भी धर्म के हो सकते हैं। इसलिए हिन्दू के अलावा ईसाई आदि भी अनुसूचित जनजाति के सदस्य हो सकते हैं। आदिवासी की पहाडी व जंगली वास स्थानों पर कब्जा किया जाता रहा है और साहूकारों वा ज़मीन्दारों द्वारा उनका शोषण किया जाता है। वे शिक्षा और चिकित्सा आदि की सुविधाओं से भी वंचित रहते हैं। जंगलों की कटाई करने वाले ठेकेदारों के शोषण के

भी वे शिकार होते हैं। यही नहीं अंधी न्यायव्यवस्था द्वारा बनाये गये नियमों के तहत अचानक ये अपराधी तक बन जाते हैं।

शिक्षा के बढ़े प्रसार से आदिवासी समाज थोडा बहुत लिख पढ रहा है, इसलिए युवकों में अपनी दशा के परीक्षण तथा चिन्तन की प्रक्रिया ज़ोर पकड रही है। आदिवासियों में पुराने मूल्यों को जानबूझकर नकारनेवाले नई पीढ़ी उदित होने लगी है। इन नवशिक्षित आदिवासी युवकों का जीवन के प्रति नया अहसास तथा अनुभव, तेज और विद्रोही तो है, साथ ही यह नव-निर्माण हेतु सक्षम भी है। आर्यों के आक्रमण से वन-जंगलों में पलायन को मजबूर और अत्यधिक भय से पीडित आदिम-समूह के जीवन की चिरवेदना, नई पीढ़ी के आदिवासी युवक के संवेदनशील मन को घायल कर रही है। पहला आदिवासी साहित्य सम्मेलन, आदिवासियों की वनवास मुक्ति की ओर उठा पहला कदम है। (10 नवं 1979)

आदिवासियों का जीवन अनेक कथाओं से युक्त है। उनकी चित्रकला, संगीतकला, कढाई, नृत्य, गायन आदि कलाएं प्रशंसनीय है। उनका अपना समृद्ध लोक साहित्य है। लोक कथा लोकगीत, लोकोक्ति आदि से वह कूट-कूटकर भरा है। प्रत्येक जनजाति का अपना वैशिष्ट्य तथा परंपरागत लोक साहित्य है।

आदिम जनजातियों में जैसी प्राकृतिक और सांस्कृतिक प्रेरणाएँ हैं, वैसे ही ऐतिहासिक प्रेरणाएँ भी हैं। आदिवासी आन्दोलन के विविध रंग है। उनका विद्रोह समान सामाजिक यातना से उत्पन्न हुआ है। कुछ आदिम जनजातियों ने अपने आत्मसम्मान के लिये आन्दोलन किया तो, कुछ ने अपनी संस्कृति को बचाने के लिये, तो कुछ आदिवासी शोषण, विषमता के विरुद्ध आन्दोलन शुरु किया।

समय तेज़ी से बदल रहा है। इस बदलते समय का प्रभाव नव शिक्षित आदिवासी युवकों की जीवन दृष्टि तथा जीवनानुभव पर पड रहा है। प्रकृति से दूर रहनेवाला यह युवा-वर्ग शहरों में उच्चवर्गीय तथा प्रगतिशील लोगों के संपर्क में पल-बढ रहा है। आसपास की बदलती परिस्थितियों और पर्यावरण से उन्हें समझौता करना पड रहा है।

स्वर्गीय नारायण सिंह जी ने संस्कृति के संदर्भ में जो अमूल्य संकेत दिए वे इस प्रकार है-"आदिवासियों की संस्कृति और उसके विकास का संबंध निकट का है। आदिवासियों को संगठित करने की शक्ति उनके सांस्कृतिक अधिष्ठान में ही है। सत्ता संपत्ति का आकर्षण, भ्रष्ट मार्ग का अनुसरण व व्यक्तित्व पूजा का विकास आदिवासियों को खाई में ले जायेगा।"[20]

उनका कथन का अर्थ है संस्कृति के जीवित रहने से ही आदिम जनों का सामाजिक 'अस्तित्व' और 'स्वत्व' कायम रहेगा। उनका संगठन मज़बूत होगा।

भारतीय समाज में व्यक्ति की स्थिति, आदर्श, मूल्य, परंपराएँ, विश्वास, व्यवहार प्रतिमान आदि धर्म से प्रभावित हैं।

राजनैतिक स्वार्थी के कारण ब्रिटिश शासनकाल में भी अनुसूचित जनजातियों की स्थिति दयनीय तथा उत्पीडित रही, किन्तु स्वतंत्रता के उपरांत सरकार ने अनुसूचित जनजातियों के उत्तरोत्तर उत्थान के लिए अनेक प्रयास किए तथा गैर सरकारी संस्थाओं से भी सामाजिक आर्थिक सुधार में अभूतपूर्व योगदान दिया है।

राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र में आदिवासियों को हाशिए पर खदेड दिया गया है, उनकी यह दुरावस्था उपनिवेशोत्तर शासकों की राष्ट्र-निर्माण नीतियों का प्रत्यक्ष परिणाम है।

नए शासकों ने एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था और विकास की परिकल्पना उन पर थोपी जो आदिवासी प्रकृति, विश्वदृष्टि और जीवन शैली के विरुद्ध पडती थी। यह प्रकृति से आदिवासियों के विशिष्ट संबंधों के धज्जियाँ उडा दी। साधन स्रोतों की लूटपाट के लिए आदिवासी क्षेत्रों के द्वार खोल दिए गए। उच्चवर्ग के अनुसार इन साधन-स्रोतों पर राज्य का स्वामित्व था और इससिए आदिवासियों का उन पर कोई हक नहीं बनता था। इसके अलावा राष्ट्रीय हितों के नाम पर उच्चवर्गीय लोगों ने कानून के माध्यम से इन संसाधनों पर अपना एकाधिकार जमा लिया।

## 1.7 आदिवासी संस्कृति

समाज और संस्कृति का अन्योन्याश्रित संबंध रहा है। संस्कृति का आधार समाज और समाज को नियंत्रित करनेवाली संस्कृति। जब समाज की आवश्यकताओं की पूर्ती करने में संस्कृति असमर्थ होती तब नई संस्कृति, नये मूल्य निर्माण होते हैं। सांस्कृतिक आदर्श का व्यावहारिक रूप संस्कार है। जिसे व्यक्ति समाज के माध्यम से ग्रहण करता है। अतः साहित्य, समाज और संस्कृति एक पर आश्रित है। बी.डी गुप्ता के शब्दों में- "साहित्य संस्कृति का अंश है। संस्कृति समाज को संतुलित एवं व्यवस्थित रूप प्रदान करती है।"[21] डॉ. मदनगोपाल के मतानुसार, "मानवी जीवन की संपूर्ण गातिविधियों का संचालन कर सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाने की दिशा में अग्रसर करनेवाली व्यवस्था संस्कृति है।"[22] डॉ. चण्डीप्रसाद का कथन है, "सांस्कृतिक आदर्शों का मूल्य व्यक्ति के लिये तब संभव है, जब इन्हें सामाजिक जीवन में व्यवहृत

कर सके।"[23] समाज और मानवीय जीवन को नियंत्रित, संपन्न बनानेवाली संस्कृति है।

वास्तव में भारतीय संस्कृति की रीढ़ ग्रामीण और आदिवासी संस्कृति है। जनजाति संस्कृति में भारतीय संस्कृति की मौलिकता और उसका आदि रूप अक्षुण है।

### 1.7.1 जनजातियों की सांस्कृतिक धरोहर

आदिवासियाँ अपनी सांस्कृतिक विरासत को धर्म एवं श्रद्धा का आधार देती है। आदिवासियों की धार्मिक मान्यता में सामान्त्यता समानता होने पर भी हर समुदाय अपनी-अपनी अलग पहचान बनाता है।

### 1.7.2 त्योहार

संस्कृति का प्रतीक त्योहार है, मानव त्योहार प्रिय है। आदिवासी हर क्षण को मनाते हैं। फसल काटने पर चैत्री त्योहार, नया चावल पक जाने पर नयाखाई पर्व, मुख्य त्योहार होली मनाते हैं। कोरवा पौष में देवयान, धान काटने पर कुआर, मुण्डा फसल आने पर भागो पर्व, धान बोते समय होनबा, भूत-प्रेत को भगाने के लिये सोमा बेंगा, दीवाली मनाते हैं। उरॉव, सरडल, करमा, कन्हारी पर्व में सूर्य, वृक्ष की पूजा करके मुर्गी की बलि चढाते। भीर होली, दीवाली, दशहरा मनाते हैं। आमली, जन्माष्ठमी, एकादशी भी मानते हैं। उसमें नृत्य और शराब का सेवन होता है। संथाल सरोक, हरियर, साहराय, पाता, काराम महादेव, हनुमान, पृथ्वी की पूजा करते हैं। पहरिया-दशहरा, मकर संक्रात, रक्षाबंधन मनाते हैं। आदिवासियों के पर्व

हिन्दुओं के पर्व के समान है। बलिप्रथा, देवता पूजन, नशापन दर्शन यहाँ होते हैं। आज शहरीकरण, ईसाईकरण के कारण त्यौहार का महत्व कम हो रहा है।

### 1.7.3 अंधविश्वास

धर्म का प्रभाव, भय की भावना, देवता के प्रति श्रद्धा, अज्ञान के कारण अंधविश्वास बढ रहे हैं।

जुआंग भूत-प्रेत, बिमारी को बगाने के लिये सुअर, मुर्गी की बलि देते, कोया, हरिजन, मुसल्मानों से छुआ अनाज नहीं खाते। हो प्रजाति प्रेतात्मा से डर कर चबूतरे बनाते हैं। डोम्बो ईश्वरीय क्रोध से बचने के लिये नरबलि देते हैं। बेगा-संकंट मुक्ति के लिये नदी, तालाब, पर्वत की पूजा करते हैं। कूली भूत-प्रेत की पूजा करके बिमारी को भगाते हैं। कुल्लूवासी भगवान को प्रसन्न करने के लिये भैंस की बलि देते हैं। खासी सर्प को घर से निकालने के लिये नरबलि देते, उरॉव झाड-फूक से भूत से मुक्ति पाते हैं। बैगा अपनी रक्षा के लिये ताबीज बाँधते हैं। अशिक्षा और अज्ञान के कारण आदिवासी यह सब मानते हैं। भूमण्डलीकरण की इस दौर में भी कुछ आदिवासी अपने विश्वासों पर अडे रहते हैं और बाहरवाले इसका फायदा उठाते हैं।

### 1.7.4 विवाह

आदिवासी में विवाह धर्म बंधन नहीं बल्कि करार है। आदिम जाति में क्रय विवाह, विनिमय विवाह, राक्षस विवाह, अपहरण विवाह, प्रक्षिप्त विवाह, परीक्षा विवाह कई प्रथाएँ दिखाई देती हैं। विवाह में नाच, गाना, दहेज, बलि आदि चलते हैं।

आदिवासियों में बाल विवाह नहीं होते, थारू में विवाह के समय लडकी को पैसा देते हैं तंबाकू बाँटते हैं। उराँव में लडके को पेड पर चढने की परीक्षा देना होता है, नागा में शिकार या चार-पाँच हत्या करना प्रमुख हैं, गोंड में समगोत्रीय विवाह नहीं होता, मृतक भाई की पत्नी से देवर शादी करता है। खासा में बडा बेटा ही विवाह करता है। टोडा विवाह के बाद स्त्री स्भी भाई को पत्नी, विवाह पूर्व मिलने की छूट दी जाती है। आदिम प्रथा परंपर के अनुसार विवाह होते हैं। शहरी लोगों के मेल मिलाप से विवाह में भी बदलाव आया है। आदिवासी विवाह आजकल सभ्य समाज के लोगों के तरह मनाते हैं। पुराने रस्मों-रीति रिवाज़ो को तोडकर आज के नौजवान विवाह करते हैं। शिकार करना, परीक्षा देना ऐसी रिवाज़ों को मानने से मना करते हैं। शहरी लोगों की तरह नाच, गाना, शराब यहाँ तक कि भोजन भी काटरिंगवालों से मंगवाते हैं।

### 1.7.5 मृतक संस्कार

आदिवासी भूत-प्रेत में विश्वास रखते हैं। कुछ लोग अग्नि संस्कार करते हैं तो कुछ लोग दफनाते हैं। दफनाने के बाद मृत व्यक्ति के साथ उनके हर चीज़ को रखते है क्योंकि मृत्यू के बाद भी उन्हें किसी भी चीज़ का कमी न हो। कुछ लोग तीर रखते हैं। सामान्यतया सभी जातियों में मृतात्मा को संतुष्ट रखने का प्रयास करते हैं। झाड-फूक, जादू-टोना, ओझा की सहायता, डायन संबंधी धारणा, बलि प्रथा आदि के दर्शन होते हैं।

### 1.7.6 जन्म

आदिवासी लोग बच्चे के जन्म पर लोगों को दावत देते हैं। नाच, गाना सब होता है। लडका होने पर उसको तीर देते हैं। केरल के कुछ आदिवासी वर्ग में प्रसव

के समय स्त्री को अकेले घर में रहना पडता है। उनके लिये अलग से घर बनवाता है। कुछ तो प्रसव के समय मर जाते हैं तो कभी जंगली जानवर उठाकर ले जाता है। प्रसव के सात दिन बाद ही स्त्री को बच्चे समेत बडी धूमधाम से घर ले जाते हैं। आज के नौजवान इस तरह की रिवाज़ों को नहीं मानते वे इसके खिलाफ रहते हैं।

### 1.7.8 लोकगीत

आदिवासी जीवन की झांकी लोकगीत में समायी है। विभिन्न अवसरों पर लोकगीत गाते हैं। देवी-देवता को प्रसन्न करने के लिये, प्रकृति पूजा करते समय खेती करते समय, फसल काटते समय, जन्म के समय, मृत्यू के समय, विवाह के समय, पर्व- त्योहार के समय, सुख-दुःख जीवन के हर क्षण के लिये गीत हैं। उनके गीतों में पहाड, नदी, जंगल बोलते हैं। प्रेम गीत, विवाह गीत, बिदाई गीत, नृत्य गीत, घोटुल गीत, शिकार गीत, किन्नर गीत आदि विभिन्न लोकगीत रहे हैं। लगता है आदिम संस्कृति का भाव विश्व लोकगीत में शब्दबद्ध हुआ है। रचयिता अख्यात होकर भी ये गीत पीढी-दर-पीढी हस्तान्तरित हो रहे हैं। बाज़ारीकरण और भूमण्डलीकरण के कारण आजकल के पीढी लोकगीत की जगह फिल्मी गाने सुनने-गाने में अधिक रुचि रख्ने लगे हैं। मोबाइल फोन और कंप्यूटर की वजह से आदिवासी समाज अपनी परंपरागत रीति-रिवाज़ों से दूर होते जा रहे हैं।

### 1.7.9 लोककथा

लोकगीत के तरह लोककथा में लोक मानस का दर्शन होते हैं। देवी-देवता संबंधी कथा, राजा की कथा, जाति कथा, सामाजिक कथा आदि हैं। भारत में लोक कथाओं का स्रोत प्राचीन है नीति कथा, जातक कथा, पंचतंत्र कथा, पशुपंछी कथा जनप्रिय है। विजय चौरसिया के शब्दों में "लोककथा आदिम जनजाति की धरोहर

है। कथाओं में समाज के स्वरूप, संगठन, सामाजिक आस्था के दर्शन होते हैं।"[24] एलविन कहते हैं- "आदिवासियों की कहानियों के जरिए हम उनके नजदीक जाते हैं। उनका भोलापन, उनके संस्कार देखने को मिलता है।"[25]

आदिवासियों में पुरखों की कथा, भूत-पिशाच डायन की कथा, देवता की कथा, जंगली जानवरों की कथा, शिकार कथा, राजा की कथा, मृतात्मा की कथा, तालाब की कथा, गोदने की कथा आदि मौजूद हैं। भोले-भाले आदिवासियों की मानसिकता, भावुकता, अंधश्रद्धा के यहाँ दर्शन होते हैं।

### 1.7.10 रीति-रिवाज़

भारतीय समाज 'रूढिप्रिय समाज' है। आदिवासी अपना प्रथा-परंपराओं को कठोरता से पालन करते हैं। बलि प्रथा, गोनों प्रथा, लमसेना प्रथा, तंबांकू बॉटना, शरीर गोदा, भंगोल रखना, मेहर प्रथा आदि का चलन हैं। भूत, प्रेत, मृतात्मा, देवी-देवता को प्रसन्न करने के लिये मुर्गी, बकरी, भैसा या नर की बलि देते हैं। कुछ वर्गों में पत्नी के मृत्यू के बाद एक साल तक नहाना और तीखा खाना मना है।

यहाँ स्पष्ट है कि आदिवासी अपनी सांस्कृतिक विरासत की रक्षा कर रही हैं। उनकी विरासत अपनी अलग पहचान बनाती है। त्योहार, उत्सव-पर्व, लोकगीत, विवाह और मृत्यु में सामूहिकता है। अंधविश्वास के पीछे अज्ञान, भय की मात्रा अधिक है। आदिवासी प्रकृति का पुत्र, धरती की संतान, भारतीय संस्कृति की उपासक है। शहरीकरण की प्रभाव से धीरे-धीरे होनेवाला परिवर्तन पहाडी आदिम संस्कृति को ध्वस्त कर रहा है।

### 1.7.11 प्रकृति-पूजा

प्रकृति से आदिवासियों की अविच्छिन्न संबंध है। सच तो यह है कि आदिवासियों का जीवन प्रकृति की अनुकंपा पर अवलंबित है। हरे-भरे जंगल और पर्वत के समतल भाग उनके घर हैं। जंगल के वृक्ष उनकी अजिविका के साधन है। और नदी-झरने से इनके प्यास बुझती है। समय घडी देखकर नहीं बल्कि आकाश की ओर देखकर समझते हैं। आदिवासी समाज सूर्य-चन्द्र, वृक्ष-पर्वत आदि की पूजा करते है। ये पशु-पक्षियों की वन्दना भी करते हैं।

बिहार के संथाल, मुण्डा हो, मालेर एवं बिरहोर सूर्य को सबसे बडा ईश्वर समझते हैं। माल पहाडियाँ सूर्य एवं पृथ्वी को देवता मानते हैं। आदिवासी धरती, सूर्य, चन्द्र को देवता मानकर उसकी उपासना करते हैं। उन्हें प्रसन्न करने के लिये बलि भी देते हैं।

### 1.7.12 धर्म

आदिवासियों के धर्म संबंध में विवाद चल रहा है। आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा का प्रचार नहीं था और जंगलों और पहाडों में बसे होते के कारण नगर में फैली सभ्यता चिह्न से वे अपरिचित रहे थे। परिणाम स्वरूप ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म का प्रचार किया, लेकिन सर्वेक्षण के मुताबिक रचा होता है कि आदिवासी हिन्दुओं के रस्म-रिवाज़ से ज्यादा निकट है।

धर्म के संबंध में अब मान्यताएँ बदल रही है। नयी पीढी के लोग आदिवासी को हिन्दू नहीं सरना धर्म को मानते हैं। हिन्दू लोग देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, किन्तु सरना समुदाय शून्य के उपासक हैं। सच तो यह है कि हिन्दू धर्म में भी

निर्गुण धर्म की उपासना पद्धति है। गरीबी, शोषण, अत्याचार आदि के कारण कई आदिवासी धर्म परिवर्तित हो रहे हैं।

## 1.8 आदिवासियों की भाषा

भारतीय आदिवासियों की सरलता सराहनीय है। सरल-सुशील और आडंबरहीन नागरिक के रूप में भारत के आदिवासी रामायण-महाभारत काल से ही अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं। प्रकृति से इनका तादात्म्य संबंध रहा है जिसके परिणाम स्वरूप, उनकी संगीतमयी नैसर्गिक बोली ऐसी प्रतीत होती है, जैसी बांसुरी बज रही हो। भारत के आदिवासियों की भाषाओं के सिंहावलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनमें कई भाषा परिवारों के बीज वर्तमान है। फिर इन भाषाओं के अलग-अलग वर्ग है जो उनकी स्थानगत विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं। भाषा शास्त्रियों के अनुसार जनजातियों की सभी भाषाओं को एक ही भाषा परिवार के अंतर्गत वर्गीकरण नहीं किया जा सकता है। संथाली, हो, मुण्डारी, खडिया, खेरबारी, चेरो आदि भाषाएँ आस्ट्रिक भाषा परिवार के अन्तर्गत आती हैं। कुडुख, उरॉव, मालतो, किसान, पनिया, इरुला, टोडा, कोटा, वडा, कुरुम्बा, येरावा, चेचु, येनाडी, येरूकुला आदि भाषाएँ द्रविड परिवार में आते हैं। बोडो, राभा, कर्षी, दिमाशा, देवरी, लालुंग, माओ, खोयराव, काचानागा, मारिंग, कबुई, जेमीनागा, गारो, कोच, सेमा, लोथा, फोम, खोजा, कुफी आदि भाषाएँ तिब्ती बर्मी परिवार के अन्तर्गत आती हैं। अस्ट्रिक द्रविड और बर्मा भाषा परिवार के अन्तर्गत जनजातियों की ऐसी भाषा भी है जिसमें आर्यभाषा से बहुत अधिक समानता है।

आदिवासियों की भाषा तो है लेकिन लिपि की कमी खटकती है। भारत के पूर्वाचल क्षेत्र में प्रयुक्त आदिवासी भाषाओं के लिये रोमन लिपि का प्रचार-प्रसार शुरु

किया ऐसा भी विवाद चल रहा है। कुछ विद्धानों के अनुसार आदिवासी भाषाओं की भावधारा को वहन करने की क्षमता रोमन लिपि में है ही नहीं।

आधुनिक शिक्षा से वंचित ये भोलेबाले आदिवासी अंग्रेज़ी शासनकाल में लिपि के रूप में भी सांस्कृतिक शोषण के शिकार रहे हैं। इन्हें मुख्यधारा में लाने की आवश्यकता है। यह सत्य है कि मातृभाषा में वक्ता की आत्मा बसती है। भारतीय जनजाति के उत्थान के लिये आज कई कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं। इन कार्यक्रमों में आदिवासियों की भाषिक समस्या पर गंभीरता पूर्वक विचार कर उनका मार्ग निर्देश किया जाना चाहिए। इस भाषिक समस्या में ही उनकी लिपि की समस्या भी मौजूद है। जनजातीय विज्ञानों के द्वारा कृत्रिम लिपि के निर्माण का कोई सफल आधार नहीं मिलता, इससे तो पृथकतावादी तत्वों को बल मिलेगा एवं सांस्कृतिक और राष्ट्रीय एकता में बाधा उत्पन्न होगी।

भारत में आदिवासियों के बीच जो भाषाएँ प्रचलित हैं, उनकी संख्या सवा सौ से अधिक है। बहुत विस्तृत सर्वेक्षण से संभव है, कुछ और भी भाषाओं का पता चले। भारत के विभिन्न भागों में बसे आदिवासियों की भाषाओं को भाषा वैज्ञानिकों ने चार भाषा परिवार में वर्गीकृत किया है- आर्य, द्रविड, आस्ट्रिक, तिब्बत-बर्मी भाषा परिवार में समाहित है। विशेष बात यह है कि इतना भेद होते हुए भी इनमें पर्याप्त समानता है।

यदि हम जनजातीय भाषाओं के विकास की समस्या हल करना चाहते हैं, तो हमें सबसे पहले इनकी लिपि समस्या को संगत निदान करना होगा।

हमारे देश में 1650 भाषाएँ और बोलियाँ विद्यमान हैं। परन्तु संवैधानिक रूप से केवल 22 भाषाओं को ही स्थान प्राप्त हुआ है, जिसमें आदिवासी समूह की संथाली और बोडो भाषा को ही सरकार ने संविधान में सम्मिलित किया है। आज लगभग 90 आदिवासी भाषाओं में साहित्य लिखा जा रहा है। इनका अनुवाद हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में भी हो रहा है। आदिवासी भाषा की गूँज भारत में ही नहीं बल्कि विश्व में भी गूँज रही है। आदिवासी आर्यों द्वारा खदेडे जाने पर जंगल में रहने लगे। वहीं उन्होंने अपनी, संस्कृति, भाषा और समाज को विकसित किया। भले ही वह अशिक्षित हो किन्तु उनकी अपनी परंपरा है, अपना जीवन है तथा अपना इतिहास है।

## 1.9 आदिवासी साहित्य और उसकी जातीय अस्मिता

भारत एक ऐसा वैविध्यमय देश है जो बहुत सी जातियों, धर्मों, भाषाओं तथा प्रदेशों का समाहार है। इस राष्ट्र में पाई जानेवाली विविधामयी अनेकता में एकता के सूत्र में बाँधी हुई है। एकता का यह सूत्र एक झंडा, एक संविधान, एक राजभाषा, एक राष्ट्रगान नहीं है। परन्तु एकता के सूत्र इनसे आगे और इनसे कहीं अधिक मज़बूत जातीय और सांस्कृतिक चेतना के सूत्र है जो इस देश की मिट्टी में सदियों से एक-दूसरे को जोडते-मिलाते आ रहे हैं सारी विविधता को एक सूत्र में पिरोते आ रहे हैं।

जातीय-सांस्कृतिक चेतना प्रत्येक राष्ट्र की अपनी विरासत होती है जो वसियत के रूप में भाषा, पर्व-त्योहार, व्यवहार आदि के माध्यम से अनवरत प्रवाहमान बनी रहती है। इसमें कुछ नया जुडता रहता है। कुछ पुराना खारिज होता रहता है। आचार्य कृष्ण कृपलानी ने ठीक ही कहा है-"भारतीय सभ्यता की तरह, भारतीय

साहित्य का विकास जो एक प्रकार से उसकी सटीक अभिव्यक्ति है, सामाजिक रूप में हुआ है। इसमें अनेक युगों, प्रजातियों तथा धर्मों का प्रभाव परिलक्षित होता है और सांस्कृतिक चेतना तथा बौद्धिक विकास के भिन्न स्तर मिलते हैं।"[26]

भारत वर्ष की जातीय-सांस्कृतिक चेतना की एक पहचान है। उसका अपना मुकम्मल इतिहास और वर्तमान है। इतिहास के किसी भी पक्ष को देखे चाहे वह सामाजिक-धार्मिक इतिहास हो या साहित्यिक-सांस्कृतिक, सर्वत्र एक संघटनात्मक एकता दिखाई देती है। जाति और सामाजिक स्थिति का पूरा मामला भावनात्मकता से इतना प्रेरित है कि अक्सर वस्तुपरकता कठिन हो जाती है। कोई खोज जो निर्मम रूप से वस्तुपरक होकर शुरु होती है। वह अक्सर आधे रास्ते के स्वच्छन्दतावादी पलायनों अथवा अस्तित्वहीन समस्याओं के उत्तेजक उत्तर पाने में अपना रास्ता खो देती।

हिन्दी के लेखकों और समीक्षकों में जो वर्णवादी और जातिवादी मानसिकता वर्षों से सुप्त रूप में कार्यरत थी, वह इन दिनों अधिक मुखरता से व्यक्त हो रही है। सवर्ण, दलित हो या आदिवासी वे सृजनात्मक साहित्य की ओर साहित्य की दृष्टि से न देखते हुए, रचयिता की जाति क्या है, इस दृष्टि से देख रहे हैं। परिणामतः वे उन रचनाओं में निहित सूक्ष्म स्वर को, व्यंग्य को अनदेखा कर रहे हैं। जिससे जातिगत आधार पर आंकने की दृष्टि प्रमाणित होती है।

मानव-जाति को वर्ण, सवर्ण-अवर्ण, ऊँच-नीच वर्ग में विभक्त करना कार्लमार्क्स के अनुसार साधन संपन्न शोषकों के प्रभुत्व का परिणाम है। आदिवासी साहित्यकारों को मानव के नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा करने के लिए कटिबद्ध होना होगा और सामाजिक समानता की न्यायोचित व्याख्या करनी होगी। यह व्याख्या

व्यावहारिक और यथार्थ होगी। समाज और राष्ट्ररूपी भवन का शूद्र राष्ट्र की आधारशिला, मेहनतकश मज़दूरों के श्रम से सिंचित समाज की बुनियाद है। आदिवासी वर्ग समाज का मस्तिष्क और हृदय भी है और आदिवासी साहित्यकार उस मस्तिष्क और हृदय का रूंचालक है। सदियों से ब्राह्मणवादियों ने जातिगत शूद्धता के नाम पर धर्म की आड में जो जुल्म और अत्याचार किये हैं, अब समय आ गया है कि उस जर्जर कुव्यवस्था का ख़ात्मा हो। आज समाज के स्वरूप परिवर्तन के लिए एक, क्रांति होगी और उसकी बागडोर आदिवासी साहित्यकारों के हाथों में होगी।

आज भारतीय समाज में एक व्यापक क्रांति की आवश्यकता है। यह एक सामाजिक क्रांति है- सामंती अभिजात सनातनी ब्राह्मण संस्कृति के विरुद्ध दलित-आदिवासी-चिरशोषीत उत्पीडित जन-संस्कृति के आक्रोश लेखन की। यह एक क्रांति है पूर्व नियोजित सनातनी धर्मांध सामंतों के विरोध में, दलित-आदिवासी बुद्धिजीवी मनीषियों का, रचनाधर्मियों का विरोध है। यह एक सामाजिक क्रांति है- मानवीय मूल्यों की आवश्यकता के लिए, इस सामाजिक कुव्यवस्था के परिवर्तन के लिए, प्रभुत्व साधन-संपन्न ब्राह्मण संस्कृति के विरुद्ध यह आदिवासी मानवता का विद्रोह है।

भारतीय आदिवासी साहित्यकारों का क्रांतिकारी लेखन का उद्देश्य शोषण और उत्पीडन से आदिवासी वर्ग की रक्षा करना है। उनका लेखन जाति और धर्मगत उत्पीडन से मानव जाति को आर्थिक और सामाजिक शोषण से त्राण दिलाता है।

आज के आदिवासी साहित्य का उद्देश्य सामाजिक विसंगतियों और विषमताओं का ख़ात्मा करना है। वह अपनी संवेदनात्मक रचना द्वारा सदियों से शोषित, उत्पीडित, पददलित, बेजुबान इन्सान की जुबान बन सके। आदिवासी लेखन उत्पीडित जन-समुदाय को भय, आशंका, पराजय, निराशा और घुटन से मुक्त

कराकर, आस्थापूर्ण स्वतंत्र जीवन जीने की प्रेरणा देता है और उनके लोकतांत्रिक मौलिक अधिकारों की रक्षा करना है। आदिवासी साहित्य आदिवासी समुदाय की एक सांस्कृतिक पहचान बनाता है। इसलिए आदिवासी साहित्य सामाजिक अन्याय, मानवीय यातनाओं, शोषण और उत्पीडन से मानवता की रक्षा करने की अपेक्षा रखता है।

निम्न जातियों के भूमिहीन मज़दूरों पर बढी हुई क्रूरता की घटनाएँ उन साम्राज्यवादी संबंधों को उजागर करती है जो भारतीय समाज की रचना का आधार है। ये संबंध जाति और अर्थतंत्र के ज़रिए देश के एक तिहाई लोगों को वंचितों की श्रेणी में रखे हुए हैं। उन्हें उत्पादक काम-धंधों और उनके संपूर्ण स्वामित्व से वंचित रखने का षड्यंत्र पुरानी जातीय व्यवस्था और उस पर खडा हुआ नया अर्थतंत्र मिलजुलकर कर रहे हैं।

भारतीय समाज इसी दिशा में बढ रहा है। सदियों तक जाति-व्यवस्था समाज में एक बहुसंख्यक वर्ग को अर्द्धदास बनाती रही और केवल उनकी बहुसंख्या ही पूर्ण दास बनने से रोके रख सकी। लेकिन पिछली एक सदी में जो साम्राज्यवादी अर्थतंत्र खडा हुआ है। उसने जाति-व्यवस्था के प्रभुओं को नयी ताकत दे दी। आज़ादी के पहले भी आदिवासियों की समस्या राजनीतिक प्रश्न के रूप में तीखे ढंग से उभरी थी। आज़ादी मिलने के तत्काल बाद भी यह समस्या आदिवासी की समस्या के रूप में उभरी। तत्कालीन शासकों ने राजनीतिक समाधान के रूप में उनके आबादी के अनुपात में आरक्षण देकर उन्हें मुख्यधारा में पहूँचाने का कदम उठाया। इस आरक्षण के खिलाफ भी एक भावना बडी तेज़ी से संगठित हुई। उनका तर्क है आरक्षण से सामाजिक तनाव पैदा होता है। लेकिन तर्क देनेवाले भूल जाते हैं कि

आरक्षण के पहले भी आदिवासी पर कई तरह के अत्याचार हुए हैं। असल में भारत में शोषण, उत्पीडन, अन्याय और विषमता वर्ग और वर्ण व्यवस्था का देन है।

भारतीय समाज की सबसे प्रमुख विशेषता वर्ग अथवा जाति पर आधारित समाज की ही है। जो इसकी विडंबना भी है; विशिष्टता भी। भारतीय समाज में सदियों से आदिवासी वर्ग शिक्षा, सत्ता एवं सुविधा से वंचित और उपेक्षित रहा है। आज़ादी के बाद लोकतांत्रिक व्यवस्था, शिक्षा एवं राजनैतिक चेतना के प्रसार के फलस्वरूप धीरे-धीरे वह शिक्षित, सुविधा संपन्न और सत्ता का भागीदार बना या बनता गया।

भारतीय संविधान में जिन आदिम जातियों को सूचीबद्ध किया गया है, उन्हें अनुसूचित जनजाति कहा जाता है, यह शब्द किसी एक जातीय समूह को द्योतित नहीं करता, अपितु अनेक जातीय समूहों के लिए प्रयुक्त होता है। आधुनिकीकरण की रफ्तार बडी तेज़ी से आदिवासी जीवन में विकास ला रही हैं और इस विकास की बडी कीमत विस्थापन और नये शोषण चक्र के रूप में इन्हें चुकानी पडी है। आदिवासी अंचलों में अकूत खनिज संपदा की प्रचुर सुलभता के कारण अनेक औद्योगिक परियोजनाओं और खदानों में नयी बढती आबादी के बीच अपनी पहचान के डूब जाने का खतरा इनके सामने दिखाने लगा है। निष्कर्षतः जनजातीय क्षेत्रों का पूरा परिदृश्य इतनी तेज़ी से बदलता जा रहा है कि सिर्फ कुछ दशक पहले तक विश्वविद्यालयों के पाठ्य ग्रंथों में वर्णित जनजातीय समाज और जीवन संबंधी तमाम ब्योरे बासी और पौराणिक जैसे लगने लगे हैं।

पिछले दो दशकों में हिन्दी साहित्य में जनजातीय समाज और संस्कृति के प्रति एक नया रुझान विकसित होता दिखलाई पड रहा है। बेशक इस जनपक्षीय रुझान

और बदलाव का स्वागत होना चाहिए। सच तो यही है कि जनजातीय समाज और उनका सामुदायिक जीवन भीतर से चाहे जितना उन्मुक्त और खुला हुआ हो, बाहरी लोगों के लिए एक बंद समाज ही है। इसलिए साहित्य रचना करने से पहले विभिन्न आदिवासी वर्ग, उनके समाज, संस्कृति, जीवन-शैली, परिवार-संस्था, आस्था-विश्वास आदि को समझना ज़रूरी है। ऐसे समुदायों के बारे में साहित्य रचना की चुनौती यही है कि उनकी सामाजिक मान्यताओं, सांस्कृतिक परंपराओं, राजनीतिक-आर्थिक दबावों और बुनियादी संरचनाओं के अंतरंग से गहन साक्षात्कार के बिना की गयी रचना आदिवासी जीवन की वास्तवीकता व्यक्त करने में असमर्थ बन जाती है।

गौरतलब बात यह भी है कि जिसे हम जनजातीय जीवन कहते हैं उसका कोई सार्वभौमिक चरित्र या स्वरूप नहीं बताया जा सकता। कुछेक बुनियादी समानताओं के बावजूद प्रत्येक जनजाति की अपनी सांस्कृतिक विलक्षणताएँ हैं। अपने सामाजिक विधि-विधान है, अर्थ तंत्र या आर्थिक व्यवस्था है, नैतिक-धार्मिक मान्यताएँ है और सदियों से चली आ रही परंपराएँ है। विकास के मानकों के आधार पर भी सभी भारतीय जनजातियाँ एक ही पडाव पर टिकी हुई नहीं है। उनके लोक गीत, नृत्य-संगीत, आहार प्रकार, अलंकरण अभिरुचियाँ या उत्सव-त्योहारों के कलंडर समान नहीं है। ज़ाहिर है कि इतनी विभिन्नताओं के बीच रहते हुए किसी समतुल्य समाज व्यवस्था, सांस्कृतिक मूल्य और आर्थिक जीवन की कोई एक रूपरेखा नहीं बनायी जा सकती। नामकरण, जीवन-मृत्यू, संस्कार, विवाह, रीति-रिवाज़, संपत्ति के उत्तराधिकार के नियम, पूजा विधि और ईश्वर विषयक धारणा इन सब में पर्याप्त अंतर और निजी वैशिष्ट्य है। इसी कारण हिन्दी साहित्य में आदिवासी समुदाय के विविधताओं और कतिपय विलक्षणताओं का समुचित निवेश हुआ है।

साहित्य का वर्गीकरण प्रथमतः लिपि को आधार बनाकर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, लिखित साहित्य और अलिखित साहित्य। अलिखित साहित्य को ही दूसरे शब्दों में मौखिक साहित्य या वाचक साहित्य कहा जाता है। अधिकांश लोक साहित्य अभी मौखिक रूप में ही विद्यमान है। कम मात्रा में ही लोक साहित्य लिखित रूप में प्राप्त होता है। अधिकांश आदिवासी भाषाओं का साहित्य मौखिक रूप में ही प्रचलित है। क्योंकि ये भाषाएँ लिपिबद्ध नहीं की गई है। दो सौ से अधिक जनजातीय भाषाओं में से मात्र दो को ही भारतीय संविधान की अष्टम अनुसूची में सम्मिलित किया गया है। वे हैं- संथाली और बोडो। दोनों ही जनजातीय भाषाओं की लिपि देवनागरी है। इन लिपिबद्ध आदिवासी भाषाओं में मौखिक रूप में प्रचलित साहित्य को अब लिखित रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। साहित्य अकादमी इन दोनों भाषाओं के साहित्य को सम्मानित कर प्रतिष्ठित करने का कार्य कर रही है। कई वर्ष से बोडो और संथाली की रचनाओं को पुरस्कृत किया जाता रहा है।

साहित्य सृजन की दृष्टि से आदिवासी समुदायों में प्रचलित वाचिक साहित्य या जनजातीय लोक साहित्य ही आदिवासी साहित्य है। इस साहित्य को ही आदिवासी साहित्य माना जाना चाहिए।

आदिवासी समुदाय के रचनाकारों द्वारा हिन्दी और अपनी-अपनी मातृबोलियों, मातृभाषाओं में जो आधुनिक साहित्य विभिन्न विधाओं में रचा जा रहा है उसे ही आदिवासी साहित्य माना जाना चाहिए। आदिवासी समाज और आदिवासी मन की व्यथा को आदिवासी ही समझ सकता है। गैर आदिवासी, आदिवासी समाज की आंतरिक सांस्कृतिक सूक्ष्मताओं को नहीं समझ सकता है। अतः वह

आदिवासी जीवन की जीवंत अभिव्यक्ति आदिवासियों की भाषा में करने में संक्षम नहीं है।

हिन्दी सहित अनेक भारतीय भाषाओं में ऐसे रचनाधर्मी है जिन्होंने आदिवासियों पर केन्द्रित रचनाएँ लिखी हैं। गैर आदिवासियों द्वारा कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी आदि में आदिवासी समुदाय को केन्द्र में रखकर रचनाएँ की हैं। यद्यपि उस साहित्य में आदिवासी जीवन, समाज, संस्कृति और आदिवासी लोकरंग को दर्शाया है फिर भी ऐसे साहित्य को आदिवासी साहित्य नहीं माना जा सकता है।

आदिवासी साहित्य का समाज के साथ अटूट संबंध है। आदिवासी साहित्य वस्तुतः जीवन का साहित्य है। तथाकथित आधुनिक भावनाओं से मुक्त, अन्याय के विरोधी और न्याय का पक्षधर रहा है। साहित्य समाज का प्राणतत्व है। वह समाज का दर्पण है। उसमें समाज की अपनी स्थिति गति का आकलन होता रहता है। आदिवासी साहित्य वन संस्कृति से संबंधित साहित्य है। यह साहित्य उन वन-जंगलों में रहने वाले वंचितों का साहित्य है जो सभ्य हुआ ही नहीं या यों कहे कि होने ही नहीं दिया गया। यह गिरि-कन्दराओं में रहने वाले अन्यायग्रस्तों का क्रान्ति साहित्य है। सदियों जारी क्रूर और कठोर न्याय व्यवस्था ने जिनकी सैकडों पीढियों को आजीवन वनवास दिया, उस आदिम समूह का मुक्ति साहित्य है, आदिवासी साहित्य। ‘‘वनवासियों का क्षत जीवन, जिस संस्कृति की गोद में छुपा रहा, उसी संस्कृति के प्राचीन इतिहास की खोज है, यह साहित्य। आदिवासी साहित्य इस भूमि से प्रसूत आदिम-वेदना तथा अनुभव का शब्द रूप है।’’[27] यह प्रकृति का सहयोगी-सह अस्तित्व का अभ्यस्त, ऊँच-नीच, भेदभाव तथा छलकपट से दूर है। जीवन की समस्याएँ और प्रकृति से लगाव उनके साहित्य का आधार है।

वास्तव में आदिवासी साहित्य आदिवासियों की पीडा की अभिव्यक्ति है। उनके जीवन की विषमताओं, कठिनाइयों, समस्याओं की अभिव्यक्ति आदिवासी साहित्य की पहचान है। "दरअसल आदिवासी चेतना का लेखन जहाँ एक तरफ अपनी पीडा खुद कहने, अपने समाधान खुद ढूँढने की चेष्टा है वही आज वह प्रस्थापितों द्वारा अपनी संस्कृति को नष्ट करने, अपने संसाधनों पर कब्ज़ा ज़माने के षड्यंत्रों के बरबस प्रतिरोध की चेतना से भी लैस है। यह आदिवासी साहित्य अपने संगठन की वजह से पिछले पाँच हज़ार वर्षों से ज़िन्दा हैं।"[28]

आदिवासी साहित्य आदिवासियों की भिन्न संस्कृति, भाषा, जीवन पद्धति का अलग रेखांकन करती है। उनकी पीड़ा, दर्द, कुण्ठा और समस्याओं की अन्य समुदायों के रचनाकार उस रूप में अनुभूत और अभिव्यक्त नहीं कर सकते जिन शब्दों में आदिवासी रचनाकार क्योंकि अपने परिवेश, परिसर और संस्कृति व्यवस्थाओं में पारंपरिक जीवनयापन करने की उसकी बाध्यता होती है। डॉ.विनायक तुमराम के शब्दों में- "आदिपुत्रों को वन, जंगलों, गिरिकुहरों में कैद करने वाली व्यवस्था के प्रति जान-बूझकर किया गया नकार है। आदिवासी साहित्य का कुल वातावरण ही आदिम जीवन के दुखों को सामने लाने वाला, आदिम हुँकारों से भडका हुआ और अंधेरों से लडने वाला है।"[29]

हिन्दी में आदिवासी जीवन से संबंधित विषय को देश की आज़ादी के बाद ही स्थान प्राप्त हो सका। स्वतंत्रता के बाद हिन्दी साहित्य में जीवन के अछूते क्षेत्र की तलाश की जाने लगी। सन् 1980 के बाद हिन्दी में हशिएकृत क्षेत्रों व लोगों पर काफी मात्रा में रचनाएँ हुई हैं। इसी क्रम मे आदिवासियों को भी अपनी रचना का

विषय बनाया है। पहले आदिवासी जीवन पर बहुत कम ही रचना होती थी और उसमें आदिवासी मुख्य पात्र के रूप में चित्रित नहीं था।

आदिवासी को केन्द्र बनाकर आदिवासी और गैर आदिवासी ने रचनाएँ की है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक सभी प्रमुख विधाओं में आदिवासी समाज की प्रस्तुति की है। आदिवासी रचनाकारों ने आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संघर्ष में कविता को अपना मुख्य हथियार बनाया है। आदिवासी लेखन में आत्मकथात्मक लेखन केन्द्रीय स्थान नहीं बना सका, क्योंकि स्वयं आदिवासी समाज 'आत्म' से अधिक समूह में विश्वास करता है। परंपरा, संस्कृति, इतिहास से लेकर शोषण और उसका प्रतिरोध सब कुछ सामूहिक है। समूह की बात आत्मकथा में नहीं बल्कि जनकविता में ज़्यादा अच्छे से व्यक्त हो सकती है। आदिवासी कलम की धार तेज़ी से अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार कर रही है। आज़ादी से पहले आदिवासियों की मूल समस्याएँ वनोपज पर प्रतिबंध, तरह-तरह के लगान, महाजनी शोषण, पुलिस-प्रशासन की ज़्यादतियाँ आदि हैं जबकि आज़ादी के बाद भारतीय सरकार द्वारा अपनाए गए विकास के गलत कदम ने आदिवासियों से उनके जल, जंगल और ज़मीन छीनकर उन्हें बेदख़ल कर दिया। विस्थापन उनके जीवन की मुख्य समस्या बन गई। इस प्रक्रिया में एक ओर उनकी सांस्कृतिक पहचान उनसे छूट रही है, दूसरी ओर उनके अस्तित्व की रक्षा का प्रश्न खडा हो गया है। अगर वे पहचान बचाते हैं तो अस्तित्व पर संकट खडा होता है अगर अस्तित्व बचाते हैं तो सांस्कृतिक पहचान नष्ट होती है, इसलिए आज का आदिवासी विमर्श, अस्तित्व और अस्मिता का विमर्श है। चूँकि आदिवासी साहित्य अपनी रचनात्मक ऊर्जा आदिवासी विद्रोहों की परंपरा से लेता है, इसलिए उन आन्दोलनों की भाषा और भूगोल भी महत्वपूर्ण रहा है। आदिवासी

रचनाकारों का मूल साहित्य उनकी अपनी भाषाओं में है। हिन्दी में मौजूद साहित्य देशज भाषाओं में उपस्थित साहित्य की इसी समृद्ध परंपरा से प्रभावित है।

हिन्दी में काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक, द्वारा आदिवासी जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

### 1.9.1 कहानी में आदिवासी जीवन

आदिवासी कहानी साहित्य आदिवासी समुदाय, संस्कृति-सभ्यता, रीती-रिवाज़, लोक जीवन, नक्सलवाद, अशिक्षा, स्त्री-शोषण आदि विषयों को प्रमुखता देकर लिखा गया है। आदिवासी समुदाय अपनी भूमि, संस्कृति और श्रद्धा से जुडा होता है। उनपर होनेवाले अन्याय, अत्याचार और शोषण का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करके आदिवासियों को जागृत कराने में कहानी साहित्य का बहुत बडा हाथ है।

आजकल आदिवासियों की विविध सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्याओं को लेकर आदिवासी साहित्यकारों एवं गैर आदिवासी साहित्यकारों के द्वारा उत्कृष्ट कोटि की कहानियाँ लिखी जा रही हैं। आदिवासी साहित्य में झूठी वेदना नहीं है। उसमें उनका जीवन-दर्शन उत्कट, वस्तुनिष्ठ और अस्मिता को चुनौती देने वाला है। वह उनकी मुक्ति का शास्त्र है।

#### 1.9.1.1 विहान

विपिन बिहारी की प्रस्तुत कहानी में आदिवासियों की गरीबी, बेरोज़गारी, अशिक्षा और शोषण के साथ सत्ता के दलाल नेताओं का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करता है। ऐसे नेता आदिवासियों को कोरा आश्वासन देकर उनकी बहू-बेटी को अपने काम वासना का शिकार बनाते हैं।

### 1.9.1.2 और मादल बजी रही

योगेश शर्मा द्वारा लिखित प्रस्तुत कहानी में आदिवासी समाज, संस्कृति और परंपरा को दिखाते हुए उनके यथार्थ स्थिति का चित्रण किया है। आदिवासियों के कल्याण योजना के आड में वहाँ की मासूम लडकियों के शारीरिक शोषण करनेवाले भ्रष्ट, विलासी एवं चरित्रहीन अधिकारियों के असली चेहरे को कहानी द्वारा प्रस्तुत किया है।

### 1.9.1.3 पहचान

कोमल द्वारा लिखित 'पहचान' कहानी में आदिवासी लोगों की पहचान पर उँगली उठाया है। सभ्य समाज आदिवासियों को उनके नाम, चिन्ह और पहनावे से ही जानते हैं। आदिवासियों को कदम-कदम पर अपनी पहचान देनी पडती है इससे बढकर कौन सी विडंबना हो सकती है। इस कहानी में लेखक ने आदिवासियों के पहचान की भयानक विडंबना को हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

### 1.9.1.4 खखरा का जतरू

वाल्टर भेगरा की यह कहानी आदर्शवादी कही जा सकती है इनकी दिशा सही है और आदिवासी समाज की विकृतियों के प्रति भी जागरूक है। आम तौर पर शिक्षित होने के बाद आदिवासी समाज का पुरुष वर्ग आभिजात समाज की नकल करता है और अपनी पत्नियों की उपेक्षा करता है या अपना गाँव छोडकर, खेत छोडकर आधुनिकता में खो जाता है। गाँव के विकास को याद नहीं रखता। प्रस्तुत कहानी का नायक जतरू पढ-लिखकर अपने गाँव आता है। गाँव में स्कूल,

दवाखाना, पशु चिकित्सालय और कुटीर उद्योगों की स्थापना करके अपने गाँव और समाज का विकास करते हैं।

### 1.9.1.5 टीस

संजीव ठाकुर की 'टीस' कहानी में एक सपेरे आदिवासी को चित्रित किया है। कहानी में इन लोगों का विस्थापन, उन पर होनेवाले अन्याय, शोषण और उन पूँजीपति व्यवस्था के प्रति आक्रोश को भी व्यक्त किया है।

संजीव ठाकुर की अन्य आदिवासी कहानी है- 'चाकरी', 'अपराध', 'प्रेरणास्रोत', 'आपरेशन', 'जोनाकी', 'आरोहन', 'कहर', 'लिटरेचर', 'हिमरेखा' आदि। प्रस्तुत कहानियों में विस्थापन, नक्सलवाद, शोषण, व्यवस्था में फैला भ्रष्टाचार, स्त्री शोषण आदि समस्याओं को प्रस्तुत किया है।

### 1.9.1.6 मैं जीती हूँ

कालेश्वर द्वारा लिखित कहानी संग्रह की सारी कहानियाँ भारतीय समाज में उपेक्षा का जीवन जीती आदिवासी लोगों की जीवन गाथा है। झारखंड की आदिवासियों की परंपरा, जीवन शैली, बोली-वानी, सौन्दर्यबोध, नृत्य, संगीत, प्रेम पहाडों, झरनों, नदियों और जंगलों की सुन्दरता और उसे बचाने का संघर्ष आदि का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है।

### 1.9.1.7 बक्खड

चरणसिंह पथिक की कहानी में नारी की दयनीय स्थिति को प्रस्तुत किया है। मीणा परिवार के विवाहित नारी की दुर्दशा एवं पूर्व पति से उत्पन्न हुए पुत्र की आत्म-व्यथा की कथा है।

### 1.9.1.8 अंधेरे में सुगंध

कैलाशचन्द्र की कहानी नक्सलवाद पर लिखी जीवंत और संवेदनशील कहानी है। जिसमें पुलिसिया आतंक व स्त्री शरीर पर होते खिलवाड सामने आता है।

### 1.9.1.9 हाँ आज यहाँ कल वहाँ चले

राकेश कुमार सिंह की प्रस्तुत कहानी में महिला नौकरानियों की त्रासद व्यथा कथा है। अपने पेट पालने के लिये घर छोडकर आनेवाली आदिवासी युवतियों का मार्मिक चित्रण कहानी में है।

आदिवासी कहानी साहित्य वर्तमान स्थिति के साथ-साथ भविष्य की संकल्पना को भी रेखांकित करती है। योगेश शर्मा की 'पीछे छूटे लोग', विपिन बिहारी की 'सलीव', 'बदचलन', 'दुर्गम राह', 'दंष कथा', 'टारगेट', रोजकेर केट्टा की 'भॅवर जिद', पीटरपाल एक्का की 'राजकुमारों के देश में', 'परती ज़मीन', मंजु ज्योत्सना की 'जग गयी ज़मीन', 'प्रायाश्चित', कृष्णचंद टुड्डु की 'एक वित्ता ज़मीन', 'साकोम', कोमल की साहुकार की 'मछली', 'पहचान', वॉल्टर भींगडा की 'तरुण', 'ख्रतरा', अर्जुन सत्पथी की 'कालाहाण्डी', गुरुवचन सिंह की 'भेडिया', योगेन्द्र सिन्हा की 'आज शनिवार है', राधाकृष्ण की 'ज़िन्दगी चलती रही', भागसिंह हिरवानी की 'दहशत', पुन्नी सिंह की 'प्रेतसिद्धि' और लीला मोदी की 'एक और युद्ध' आदि कहानियों में आदिवासी जीवन का चित्रण है। आदिवासी किस तरह जीवन-यापन कर रहे हैं और अपने हक के लिए लड रहे हैं, अपनी अस्मिता या पहचान को बचाये रखने के लिये कितनी कठिनाइयों से गुज़र रहे हैं इसका ज़िक्र मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

हिन्दी में आदिवासी जीवन संबंधी कहानियों में आदिवासी समाज के हर पहलू को चित्रित करने की कोशिश की है। आदिवासियों की जल, जंगल, संस्कृति, सभ्यता, रीति-रिवाज़, शोषण, विस्थापन, शिक्षा का अभाव, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक समस्याओं को प्रस्तुत करके आदिवासियों के यथार्थ जीवन को प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

### 1.9.2 काव्य में आदिवासी जीवन

सरल, मासूम, आडंबरहीन नागरिक के रूप में रामायण-महाभारत काल से ही भारत के मूल निवासी आदिवासी का ज़िक्र हैं। आदिवासी को कई नामों से बुलाते हैं इसमें वनवासी और गिरिजन प्रचलित है। आदिवासी जीवन को विषय बनाकर कई रचनाकारों ने कविता लिखी है। आदिवासी साहित्य में कविता के विषय चाहे जो भी रहे हो किन्तु महत्वपूर्ण हैं। कवियों ने प्रकृति, नारी, विस्थापन, नक्सलवाद आदि मुद्दों को अपना विषय बनाया है। आदिवासी कविता गहराई से हमारे मन को छूते हैं।

#### 1.9.2.1 स्टेज

आदिवासी लेखन की उभरती चेतना का सबसे सटीक और सही चित्रण बाहरू सोनवणे की 'स्टेज' नाम की कविता में मिलता है। इस कविता में कवि ने अपने अहसास को व्यक्त किया है। आदिवासी साहित्य क्यों? यह कविता इस प्रश्न का जवाब देती है। प्रस्तुत कविता में उनके जीवन की विषमताओं, कठिनाइयों, समस्याओं, उनकी पीडा, दर्द, कुण्डा आदि को व्यक्त किया है।

### 1.9.2.2 अपने घर की तलाश

निर्मला पुतुल की इस काव्य संग्रह में सरकारी संस्थाओं द्वारा किये जा रहे भ्रष्टाचार का भांडा फोडती है। वैश्वीकरण के नाम पर हो रही धोखाधडी, शिक्षा के नाम पर आदिवासी लडकियों पर होनेवाले अत्याचार, आदिवासी को पिछडा, असभ्य, जंगली, मूर्ख, गँवार, अनपढ़ समझकर सदैव मुख्यधारा से दूर रखने की साज़िश इन सबसे परेशान आदिवासियों की आक्रोश और पीड़ा उनकी कविताओं में प्रस्तुत है।

निर्मला पुतुल की 'क्या तुम जानते हो', 'नगाडे की तरह बजते शब्द', 'चुडका सोरेन से' आदि कविता में आदिवासी समाज में हो रही स्त्री की आलोचना, विडंबना या विवेचना, नारी के सहज, अबोध सौन्दर्य का फायदा उठाती बाहर के लोग, आदिवासियों को शिक्षा, धर्म, धन आदि के बहाने धोखा देते है। आदिवासी लडकियों को कई तरह के प्रलोभन देकर या विवाह के सपने दिखाकर उसका शारीरिक शोषण करते हैं। इन सभी समस्याओं को निर्मला पुतुल ने कविता का विषय बनाया है। आदिवासियों की त्रासद स्थिति का चित्रण कविता द्वारा हुआ है।

### 1.9.2.3 वह जारवा औरत

हरिराम मीणा ने अपने काव्य में समाज द्वारा नारी पर होनेवाले अत्याचार को प्रस्तुत किया है। बलात्कार के शिकार बनी लडकियों को समाज या परिवार अपनाते नहीं है। समाज उसे पापी मानकर पत्थर मारते हैं। बेकसूर होकर भी उसे समाज के सामने कसूरवार ठहराया जाता है। नारी पर होनेवाले शोषण, अत्याचार को कवि ने प्रस्तुत किया है।

### 1.9.2.4 एकलव्य और अन्य कविताएँ

श्याम सिंह शशि का यह काव्य संग्रह एकलव्य को केन्द्र में रखकर रचा गया है। प्राचीनकाल से ही आदिवासियों पर अत्याचार और शोषण शुरु हुआ है इसका ज़िक्र प्रस्तुत कविता में है। आदिवासी समाज के जीजीविषा और संघर्ष शक्ति को उचित महत्व के साथ यहाँ रेखांकित किया गया है।

### 1.9.2.5 वंशी और मादल

ठाकुर, प्रसाद का यह काव्य सग्रह आचलिक लेखन के दौर में रोमांटिक भावबोध से अग्रसर कवि की मानसिकता का परिचायक है। प्रस्तुत काव्य में आदिवासी जीवन को पर्यटीक रवैये से देखा है।

आदिवासी और गैर आदिवासी साहित्यकारों ने काव्य के माध्यम से आदिवासी जीवन को सशक्त रूप में व्यक्त किया है। आदिवासी समाज आज जिन परिस्थितियों और समस्याओं से गुज़र रहा है उसका यथार्थ चित्र मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। आदिवासी काव्य साहित्य प्रतिरोध और नयी चेतना जगाने में सक्षम है।

## 1.9.3 नाटक में आदिवासी जीवन

काव्य, कहानी, उपन्यास की तरह आदिवासी नाट्य साहित्य भी अहम भूमिका निभाती है। नाटककारों ने अपने नाटक में आदिवासी जीवन को केन्द्र में रखकर कई नाटक लिखे हैं। आदिवासी समुदाय की विशेषता, समस्याएँ, प्रतिरोध, संस्कृति, सभ्यता आदि को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। आदिवासियों में नयी उमंग और जागरण जागृत करने में नाटक साहित्य सशक्त माध्यम के रूप में मौजूद है।

### 1.9.3.1 नुझडर डांड

रोज केरकेट्टा द्वारा रचित इस नाटक में आदिवासी संस्कृति को हडप रहे वर्तमान राजनीति के प्रति विद्रोह ज़ाहिर किया है। लोकतंत्र के मायाजल में पडकर धन, बल और छल से विकृत अपने वर्तमान स्वरूप से मुक्ति पा कर वह फिर से प्रकृति के गोद में अपना राज स्थापित करना चाहता है। प्रस्तुत नाटक का मूल स्वर आदिवासियों के अस्मिता को बचाये रखना ही है।

### 1.9.3.2 पोस्टर

डॉ. शंकर शेष द्वारा रचित प्रस्तुत नाटक के आदिवासी जन-जीवन को उजागर किया है। वन अधिकारी और ज़मीन्दार द्वारा आदिवासी पर होनेवाले ज़ुल्म का यथार्थ चित्रण नाटककार प्रस्तुत किया है। आज भी आदिवासी पर अन्याय एवं शोषण होता है और वे चुपचाप सहते हैं। अनपढ़ होने के कारण इन अत्याचारियों का विरोध भी नहीं कर सकते। दिन-रात कुत्तों के तरह काम करवाके एक वक्त की रोटि तक उन्हें नसीब नहीं होता। इसी शोषण और अत्याचार के विरुद्ध उनका विद्रोह ही नाटक का विषय है।

### 1.9.3.3 हवाओ का विद्रोह

विभु कुमार का प्रस्तुत नाटक सरकार द्वारा आदिवासियों को शिक्षित बनाने का विफल प्रयास की गाथा है। शिक्षा के कारण अपने परंपरागत जीवन और संस्कृति से अलग हो जाते हैं। अधूरी शिक्षा के कारण आधुनिक परिवेश के अंतर पहूँच भी नहीं पाते। सरकार द्वारा आदिवासियों को घर का न खाट का वाली स्थिति में पहूँचाते हैं। यह जनजातियों की करुण गाथा ही नहीं, बल्कि उनके जीवन व्यवस्था की

अंदरूनी पन्नों को खोलती है। नाटककार ने अतीत और वर्तमान को कुशलता से प्रस्तुत किया है।

### 1.9.3.4 हिरमा की अमर कहानी (1985)

हबीब तनवीर का यह नाटक आदिवासी जीवन के यथार्थ चित्र को पेश करने वाला पहला नाटक है। प्रस्तुत नाटक में आदिवासी जीवन का यथार्थ, गरीबी, अभाव, दुख-दर्द, को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। आज की ज्वलंत समस्या का चित्रण भी नाटक में है। सरकार, प्रशासन, पुलिस और वन अधिकारियों द्वारा मासूस आदिवासियों पर किये जाने वाले शोषण अत्याचार का यथार्थ चित्र को प्रस्तुत किया है। आदिवासी जीवन की समस्याओं को प्रमुखता देकर उनके लोक गीत, नृत्य, पर्व-त्योहार आदि को भी दिखाने का कोशिश किया है।

### 1.9.3.5 एक बार फिर (2000)

यह नाटक डॉ.सुनील कुमार 'सुमन' द्वारा लिखा गया है। अंबेडकरवादी विचार धारा को दलितों और आदिवासियों से जोडकर देखने का प्रयास रचनाकार ने किया है। आदिवासी को केवल वनवासी माननेवाले हिन्दुत्व की कमान संभालनेवाले लोगों की यथार्थ नीति को उपर्युक्त नाटक में प्रस्तुत किया है। दलितों और आदिवासियों की प्रगति से परेशान होकर उनकी एकता को तोडने की साजिश रचनेवाले लोगों का पर्दाफाश करने की कोशिश किया है। एक दृष्टि से देखा जाए तो वर्तमान राजनीतिक परिवेश का मूल्यांकन ही प्रस्तुत नाटक में किया है।

### 1.9.3.6 मोर्चा मानगढ (2009)

धनश्याम सिंह भाटी 'प्यासा' द्वारा लिखित ऐतिहासिक नाटक है। प्रस्तुत नाटक का नायक बंजारा युवक है जो बेगारी, गुलामी और नशापन के लत लगी भीलों में नवीन चेतना और जन जागृति फैलाने की कोशिश में लगा है। अंग्रेज़ सरकार एवं जागिरदारों ने निहत्थी हज़ारों आदिवासियों पर गोली चला कर बेरहमी से उनकी हत्या करते हैं। यह नाटक बहुत सारे सवाल पाठकों के सामने रखते हैं।

### 1.9.3.7 धरती आबा (2010)

प्रस्तुत नाटक बिरसा मुंडा के जीवन केन्द्रित नाटक है। रचनाकार हृषीकेश सुलभ ने वीर आदिवासी बिरसा मुंडा को वीर नायक के रूप में प्रस्तुत किया है। गरीबी, भूख, शोषण, अत्याचार आदि कुकर्मी से लडने के लिए कोसे वीर पुरुषों की आवश्यकता है। जब तक सभी सुविधाओं से वंचित समान अवसरों से वंचित समुदाय रहेगा तब तक यह जंग निरंतर चलेगा। आदिवासी पर होनेवाले अत्याचार का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत नाटक में हुआ है।

पहाडों, वनों, जंगलों में रहनेवाले भोले आदिवासी को आधुनिक मानव समाज से जुडाने का श्रेय साहित्यकार का है। अपनी रचनाओं द्वारा सभ्य समाज के सामने आदिवासियों के जीवन गाथा मार्मिक और सशक्त रूप से नाटककारों ने प्रस्तुत किया है। सभ्य समाज से आदिवासियों को सदैव अपमानित और शोषित होना पडा है। वह आज भी अत्यंत दयनीय स्थिति में है। उनके त्रासद जीवन की करुण गाथा के ज़रिए उनके अन्तर की प्रतिरोध को बाहर लाने में नाटककार सफल हुए हैं।

### 1.9.4 उपन्यास में आदिवासी जीवन

उपन्यास मानवीय जीवन का महाकाव्य है। आधुनिक काल में उपन्यास सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है। जीवन के विभिन्न आयामों को उपन्यास का विषय बनाया है। आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यास साहित्य ने अपनी अलग पहचान बना लिया है। डॉ. बदरी प्रसाद के अनुसार-"वही साहित्य सफल है, जो शोषित मानवों की पीडा, वेदना तथा उनके प्रति किए गये शोषण और अन्याय का पर्दाफाश कर सके।"[29] देखा जाय तो आदिवासी साहित्य अन्य उपन्यास साहित्य से बिल्कुल भिन्न रहा है। आदिवासियों के जीवन के समग्र पहलुओं को उपन्यासकारों ने साहित्य का विषय बनाया है।

स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी उपन्यास में आदिवासी जीवन के चित्र विरल रूप में उपलब्ध है। रामचीज सिंह द्वारा लिखित 'पन विहंगिनी' (1909), रामदीन पांडेय का 'चलता पिटारा' (1938) जैसे उपन्यास में आदिवासी जीवन संबंधित आरंभिक चित्रण मिलते हैं। बीसवीं सदी के आरंभ में लिखे गये उपन्यास है- 'जंगल के फूल' (1960), 'रथ के पहिए' (1950), 'कब तक पुकारूँ' (1957), 'सागर, लहरें और मनुष्य' (1956) आदि उपन्यास आज़ादी के पश्चात् का है लेकिन इसकी विषयवस्तु स्वतंत्रता पूर्व की है।

आदिवासी जीवन संबंधी उपन्यास लिखने वालों में सबसे पहला नाम जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का है। उनकी 'बसंतमालती' (1899) मल्लाह आदिवासी जीवन पर आधारित है। मन्नन द्विवेदी का 'रामलाल' (1904) हरिऔध का 'अधखिला फूल' (1907), ब्रजनन्दन सहाय द्वारा लिखित 'अरण्यबाला' में विध्याचल पहाडी की

आदिवासी जन-जीवन की संस्कृति का जीवन्त चित्र खींचा है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'कचनार' (1947) आदिवासी गोंड नारी की व्यथा और संघर्ष की गाथा है। इसके अलावा रांगेय राघव का 'कब तक पुकाऊँ', राजेन्द्र अवस्थी का 'सूरज किरण की छाँव', नागार्जुन का 'वरुण के बेटे', योगेन्द्रनाथ सिन्हा का 'वन में मन में', राजेन्द्र अवस्थी का 'जंगल के फूल', हिमांशु जोशी का 'अरण्य', वीरेन्द्र जैन का 'डूब', प्रकाश मिश्र का 'जहाँ बॉस फूलते हैं', हिमांशु जोशी का 'समय साक्षी है', महाश्वेता देवी का 'जंगल के दावेदार', पीटरपाल एक्का के 'जंगल के गीत', 'तलाश', हरिराम मीणा का 'धूणी तपै तीर', शंकरलाल मीणा के 'अघोषित', कृष्ण सोबती का 'सूरजमुखी अंधेरे के' आदि उपन्यासों में आदिवासी जातियों की समसामयिक समस्याओं का चित्रण किया गया है। इन उपन्यासों में आदिवासी जातियों की भाषा में प्राप्त गीत, लोरियाँ, प्रकृति चित्रण, जीवन संघर्श, जीवन की जटिलताएँ, समस्याएँ, हॅसी-मज़ाक और स्त्री शोषण पर्याप्त मात्रा में प्राप्त है।

उपर्युक्त उपन्यासों में जातिगत भेदभाव, शिक्षा, ज्ञान और हक, विरोधी क्रान्ति भावना, अधिकार के लिए तडपती भावना, गरीबी, भूखमरी, राजनीति, धर्म, लोकतंत्र की विफलता, विस्थापन इत्यादि बिन्दुओं को सहज कलात्मक ढंग से उजागर किया है।

भूमण्डलीकरण और बाज़ार ने आदिवासियों की अस्मिता, अस्तित्व,भाईचारे व आज़ादी को चुनौती दी है, उनका दायित्वबोध प्रतिरोध स्वरुप साहित्य लेखन में फूटने लगा है। साहित्य के विविध पहलुओं पर चर्चा से स्पष्ट होता है कि आदिवासी लेखन संघर्ष, उल्लास और आक्रामकता का साहित्य है।

उपन्यास साहित्य द्वारा आदिवासी समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने की चेष्टा ज़ारी है। उपन्यासकारों ने बडे मार्मिक ढंग से आदिवासियों का जीवन सभ्य समाज के सामने पेश किया है। आदिवासी जीवन से ओतप्रोत प्रमुख उपन्यास निम्नलिखित हैं-

### 1.9.4.1 रथ के पहिए (1952)

देवेन्द्र सत्यार्थी का पहला आदिवासी उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास का नायक आदिवासी रहन-सहन, रीति-रिवाज़, परंपरा आदि से प्रभावित होकर आदिवासियों के लिये 'कला भारती' नाम से आश्रम खोलता है।

### 1.9.4.2 मैला आँचल (1954)

फणीश्वरनाथ रेणु के इस उपन्यास में मेरीगंज की संस्कृति, सभ्यता, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, गतिविधि के सूक्ष्म चित्र को उतारने की चेष्टा की है। पुलिस अफसरों और मठाधीशों की धूर्तता का बडा स्वाभाविक और यथार्थ चित्रण किया है।

### 1.9.4.3 वन लक्ष्मी (1956)

लोगेन्द्रनाथ सिन्हा ने 'हो' आदिवासी को केन्द्र में रखकर उपन्यास रचना की है। उपन्यास में उत्सव, धर्म, रीति-रिवाज़, रूढ़ी, परंपरा आदि का विस्तार से चित्रण हुआ है।

### 1.9.4.4 मोरझल (1963)

श्याम परमार ने अपने उपन्यास में भील आदिवासी समुदाय के जीवन को केन्द्र बनाया है। प्रेम कथा के माध्यम से भील समाज का रोचक चित्रण किया है।

### 1.9.4.5 साँप और सीढी (1971)

शानी कृत प्रस्तुत उपन्यास में बस्तर आदिवासी जीवन की गाथा है। औद्योगीकरण की चपेट में आये जनजीवन और उसके नैतिक संकट का चित्रण इस उपन्यास का विषय है।

### 1.9.4.6 सावधान! नीचे आग है (1986)

इस उपन्यास में संजीव ने झारखंड के कोयला-खदानों में काम करनेवाले मज़दूरों की समस्या एवं त्रासदी को उपन्यास का विषय बनाया है। मुनाफे की लालच में खान के अवैध उत्खनन से हज़ारों मज़दूरों की डान चली जाती है। कोयला खदानों में होनेवाले अमानवीय शोषण एवं दमन का पर्दाफाश उपन्यास के ज़रिए संजीव ने प्रस्तुत किया है।

### 1.9.4.7 शैलूष (1989)

शिवप्रसाद सिंह का यह उपन्यास नटों के कबिलाई जीवन पर आधारित है। ब्राह्मण युवति नट युवक के प्रेम में पडकर उससे शादी रचाती है। उच्चवर्ग द्वारा आदिवासी लोगों पर होनेवाले शोषण, अत्याचार एवं दमन का विरोध करती हुई उनके नेता के रूप में सावित्री उभर आती है। वर्ण व्यवस्था का यथार्थ चित्रण उपन्यास के ज़रिए देख पाते हैं। सावित्री की कोशिश अन्त में रंग लाती है। उच्चवर्ग

के होते हुए भी आदिवासियों पर होनेवाले जुल्म को सावित्री सह नहीं पाती। अपने अस्तित्व और अधिकार के लिये प्रतिरोध करने के लिये आदिवासी समाज को प्रेरित करती है। प्रस्तुत उपन्यास आदिवासियों की शोषण और अत्याचार के ख़िलाफ खडे रहकर प्रतिरोध करती स्वाभिमान आदिवासी की झलक दिखलाते हैं।

**1.9.4.8 पठार पर कोहरा (2003)**

राकेश कुमार सिंह ने प्रस्तुत उपन्यास झारखंड के वर्तमान आदिवासी जीवन पर लिखा है। विकास के नाम पर आदिवासियों के जल, जंगल, ज़मीन पर कब्ज़ा करके उन्हें वहाँ से निकाल फेंकने का षड्यंत्र रचता है। आदिवासियों का जन्म और मृत्यु कर्ज़ में गुज़रता है। शोषक वर्ग के ख़िलाफ खडे रहकर आदिवासी समाज को बचाने का प्रयत्न जो भी करता है उसे बेरहमी से मार डालते हैं। आदिवासी प्रतिरोध के साथ नारी मुक्ति का स्वर भी उपन्यास के ज़रिए गूँजता है।

**1.9.4.9 धार (1990)**

संजीव का यह उपन्यास संथाल परगना आदिवासी को केन्द्र में रखकर किया गया है। कोयला खदानों में काम करनेवाले आदिवासियों की अभावग्रस्त जीवन की व्यथा कथा इसमें चित्रित है। पूँजीपति, ठेकेदार, पुलिस आदिवासी को धमकाकर उनका आर्थिक, शारीरिक और लैंगिक शोषण करते हैं। इन सभी समस्याओं का खुलासा उपन्यास में किया है।

**1.9.4.10 पार**

वीरेन्द्र जैन द्वारा लिखित इस उपन्यास में विस्थापन की समस्या को उजागर किया है। अनपढ़, मासूम आदिवासियों का अमीर और सरकार जमकर शोषण

करते हैं। गरीब आदिवासियों के नसबंदी करवाके उनसे मुनाफा प्राप्त करनेवाले लोगों का असली चेहरा उपन्यास में नज़र आते हैं।

### 1.9.4.11 काला पहाड (1999)

प्रस्तुत उपन्यास में भगवानदास मोरवाल ने सांप्रदायिकता के आड में आदिवासियों पर होनेवाले जुल्म का संवेदनात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। राजनीतिज्ञों के हाथ की कठपुतली बनकर सांप्रदायिक दंगों और अत्याचारों का शिकार बनते आम आदमी को उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया है। ग्रामीण अर्थ व्यवस्था का टूटना, मानवीय स्नेह, सौहार्द का क्षय प्रस्तुत उपन्यास में देख सकते हैं।

### 1.9.4.12 ग्लोबल गाँव के देवता

रणेन्द्र के प्रस्तुत उपन्यास में असुर जाति की संघर्ष की गाथा है। सभ्य समाज द्वारा आदिवासी लोगों पर होनेवाले अत्याचार, शोषण को व्यक्त किया है। आदिवासी के विकास के नाम पर विदेशी कंपनियों को उनके जंगल, ज़मीन सौपकर सरकार और पुलिस आदिवासियों को अपने ज़मीन से बाहर फेकने के लिये तैयार होते है। आदिवासियों की सामाजिक, आर्थिक शोषण के साथ नारी शोषण का भी सिलसिला ज़ारी है। इन सबके विरुद्ध प्रतिरोध करती आदिवासी जनता का चित्र उपन्यास में मिलता है। अपने अस्तित्व और माँ-बहन की इज़्ज़त को बचाये रखने के लिये संघर्षरत आदिवासियों की व्यथा कथा उपन्यास में प्रस्तुत है।

हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी समाज की समस्याओं पर प्रकाश डाला है। परंपरागत तथा परिवर्तित आदिवासी समाज का अंकन उपन्यासों में हो रहा है। आदिवासी महाभारत काल से ही उपेक्षित, शोषित रहे है। जब तक भिन्न स्तर का

विकास नहीं होता, तब तक देश को विकसित नहीं कहा जाता। आज विकास के नाम पर आदिवासियों की भूमि हडप रहे हैं। आदिवासी का अज्ञान के कारण ज़मीन्दार, सरकार, पुलिस, धार्मिक व्यक्ति द्वारा शोषण के शिकार बन रहे है।

औद्योगीकरण, भूमण्डलीकरण और बाज़ारवाद के चंगुल में फँसे आदिवासी अपने जंगल-ज़मीन को बचाने के लिए नक्सलवाद की ओर बढ रहे हैं। अपने अस्तित्व को वे पहचान रहे हैं उन्हें बचाने के लिये वे बन्दूक तक उठाने के लिये आज तैयार खडे हैं। आदिवासियों के आर्थिक समस्याओं को सुलझाने से ही नक्सलवाद का खात्मा हो सकता है। आदिवासी अपने जल, जंगल, ज़मीन, माँ-बेटी की इज़्ज़त को बचाये रखने के लिये संघर्षरत है।

हिन्दी के उपन्यासकारों ने आदिवासी समाज की यथार्थ समस्याओं को दिखाकर उनके उपाय का संकेत भी दिया है। ये उपन्यास आदिवासी जनजीवन की यथार्थ तस्वीर या दस्तावेज़ ही है।

आदिवासी साहित्य वनसंस्कृति से संबंधित उन वंचितों का इतिहास है जिनके प्रश्नों के उत्तर अतीत में कभी दिया ही नहीं गया। इस साहित्य में अभिव्यक्त विद्रोह आदिवासियों की अस्मिता व भारतीय आदिवासी समुदाय के मानसिकता में आये व्यापक बदलाव को भी रेखांकित करती है। वस्तुतः आदिम जीवन शैली, आदिम सोच, आदिम सरलता, आदिम स्वाभाविकता, आदिम गरिमा, आदिम सामूहिकता, प्रकृति प्रेम, श्रम की महिमा, बाहरी हस्तक्षेप के विरुद्ध प्रतिरोध आदि की सहज अभिव्यक्ति की बात आदिवासी साहित्य करता है। इस साहित्य में जडता नहीं वरन् गयात्मकता होती है, भद्र साहित्य के जड व कठोर प्रतिमानों से बिल्कुल भिन्न दशा का बोध कराती है। आदिवासी साहित्य एक विशेष प्रकार का लोक साहित्य है

जिसके केन्द्र में सामूहिक जीवन-अनुभव प्रतिबिंबित होते हैं। प्राथमिक रूप में आदिवासी साहित्य पहचान के सवाल से जुडा है, अतः केवल आदिवासी ही सच्चा आदिवासी साहित्य लिख सकता है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है। किंतु आदिवासी साहित्य लेखन के अंतर्गत गैर आदिवासियों को भी शामिल करने की पहला कतिपय आदिवासी चिंतकों व लेखकों की जमात में करते हैं।

## 1.10 आदिवासी विकास एवं दशा

जो आदिवासी इस देश के मूल निवासी थे वे ही अपने बाद आनेवाली जातियों की प्रताडना के शिकार बने। अशिक्षा, गरीबी, अंधविश्वास, बेरोज़गारी आदि के रहते आदिवासियों को कई मुसीबतें झेलनी पडती हैं। देवी-देवताओं के मनौती, विवाह, मृत्युभोज आदि पर अनाप-शनाप खर्च करने की प्रथा उन्हें गाँव के बनिये, साहुकार के कर्जदार बनाया। यह कर्ज आगे से आगे पीढी-दर-पीढी तक चलता रहता है।

आदिवासी के विकास हेतु कई आयोजन के लिये करोडों रुपये सरकार द्वारा खर्च किये गये। लेकिन आदिवासियों की बेरोज़गारी और गरीबी बढती हो गयी। आदिवासियों के हितों एवं अधिकारों तथा सामाजिक आर्थिक विकास के प्रश्न आज भी पाँच दशक के बाद भी चुनौती बने हुए हैं। एक-दो योजनाओं द्वारा पर्वतीय, मैदानी, जंगलों पर रहनेवाले आदिवासियों की समस्या का निराकरण नहीं कर सकते। पीने की पानी, खाद्य उपलब्धी, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा ग्रामीण स्तर पर सडकें आदि बुनियादी कार्यक्रमों का होना ज़रूरी है।

आज़ादी के पश्चात् वनों की कटाई व विनाश में तीव्रता आयी। पुरातन काल से वनों के अन्योन्यश्रित संबंधों के कारण आदिवासी आज भी जंगल के निजी संपत्ति समझता है और लघु वन उपज से गुज़ारा करता है। सरकार ने नये जंगल अधिनियम 1980 लागू कर दिया लेकिन आदिवासी इसका निरंतर विरोध कर रहे हैं।

भूमि संरक्षण कानूनों के बाद भी आदिवासी अपने ज़मीन से बेदख़ल हो रहे हैं। कृषिप्रधान आदिवासी समुदाय आज शहरों की उद्योगों की तरफ आगे बढ रहे हैं। दूर-दराज के ख़ानों में ख़ान ड्रिलिंग, मेकेनिक के कार्य करनेवाले आदिवासी अपने समुदाय से बाहर निकलकर स्कूल, कॉलेज, सरकारी-गैर सरकारी काम में लगी है। ऐसे शिक्षित युवक अपने परिवारवालों को पिछडा एवं हेय समझकर अपनी परंपरा से दूर हो रहे हैं।

आदिवासी शिक्षा में महिलाएँ दो प्रतिशत से अधिक नहीं है। पढे-लिखे आदिवासियों की तुलना में रोज़गार के अवसर बहुत कम हैं। आम आदमी विकास के साथ और अधिक निर्धन हुआ है।

आदिवासी विकास के लिये जो भी कार्यक्रम किये गये उनका नतीजा, श्रेष्ठ नहीं है। राष्ट्रीय राजमार्गों के निर्माण से 'ढाबा संस्कृति' ने आदिवासी संस्कृति को कुत्सित बनाया है। पिछले कुछ सालों से आदिवासी संस्कृति में तेज़ी से घुलते जा रहे जहर के ज़रिए 'यौन शोषण' का खुला प्रदर्शन हुआ है। आदिवासियों की गरीबी और मुक्त यौन संबंधों का समाज में छूट अविवाहित बालिकाओं का बाहरी लोगों द्वारा शोषण का कारण बन रहा है। इन्हीं हालातों से गुज़रने से एड्स जैसी घातक बिमारी की शिकार हो रहे आदिवासियों की संख्या बढ रही है।

समय के साथ मानव जीवन में तेज़ी से परिवर्तन हुआ है। मनुष्य की जीवन शैली, रहन-सहन, पहनाव-पोशाक, सजने-धजने के तरीकों में भी परिवर्तन आया। आदिवासी समुदाय भी इसका अपवाद नहीं है। गुलामी की जंजीर तोडकर वे आगे निकल आयी है। अपनी जीवन शैली, पहनावा-पोशाक और श्रृंगार करने के पारंपरिक तरीकों से आज भी घनिष्ठता से जुडे हुए हैं। फिर भी शहरों का फैलाव और आदिवासी हाथों में आधुनिक शहरी वस्तुओं के पहूँचने के कारण आदिवासी गहने और वेश-भूषा में परिवर्तन दर्शनीय है। साथ-साथ अपने पारंपरिक आचार एवं अनुष्ठान को भी अपनाये रखा है। उसे छोडा नहीं।

आदिवासियों के जीवन में बदलाव लाने में शिक्षा का ही महत्वपूर्ण स्थान है। इससे ही इन्हें अपने अधिकारों और जीवन को दूसरों के पैरों तले दबकर नहीं बल्कि अपनी रुचि एवं इच्छाओं के बलबूते पर जीना सिखाया है। शिक्षित होने के कारण सरकारी नौकरी मिल रहे हैं। आदिवासी पुरुष लुंगी और पेंट भी पहनने लगे हैं। आधुनिक शैली की कमीज़ें पहनने लगे हैं। स्त्रियाँ साडियाँ पहनने लगी हैं।

आदिवासियों के जीवन में दूरदर्शन पंखा, लापटॉप, कंप्यूटर यहाँ तक कि मोबैल तक आ गयी है। परिवर्तन की लहरे ने उनके जीवन को पूरी तरह सुधार दिया है। लेकिन ये सब सीमित लोगों तक ही पहूँची है। आज भी ऐसे लाखों-करोडों आदिवासी लोग भी हैं जिन्हें एक वक्त की रोटी तक नसीब नहीं। आज भी कपडे और पानी के लिये दर-दर के ठोकरे खाते हैं। ज़मीन्दारों, ठाकुरों, बडे-बडे कंपनिवालों के अत्याचारों को रह रहे हैं। परिवर्तन की लहर पूरे आदिवासी समाज में होनी चाहिए तभी उनके जीवन का सुधार संभव होगा।

आदिवासियों का जीवन पहले से बेहतर हो गये हैं। उनके सोच-विचार में बदलाव आ रहे हैं। अत्याचारों के विरुद्ध उनके आवाज़ बुलन्द होने लगी है। बाह्य

संपर्क, शिक्षण, संचार तथा यातायात के साधनों के कारण बाह्य दुनिया के प्रभाव में धीरे-धीरे आ रहे हैं। जीवन के प्रति निराशा, डर मिटने लगी है।

आदिवासियों अपने परंपरागत विश्वासों रीति-रिवाज़ों को तोडते नहीं फिर भी परिवर्तन की लहर इनके रहन-सहन, वस्त्र विन्यास, खान-पान, शिक्षण, कृषि आदि क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन लायी है। परंपरागत लोककलाएँ धीरे-धीरे लुप्त हो रही हैं।

सरकार द्वारा आदिवासियों के लिए स्कूल, अस्पताल, घर बना रहे हैं। लेकिन वहाँ आदिवासी नहीं है। स्कूल में अध्यापक नहीं, अस्पताल में डाक्टर भी नहीं मिलते। बीमारी के कारण कई आदिवासी तकलीफ सह रहे हैं। गरीबी ही इसका मुख्य कारण है। गर्भवती माँ के लिये पेट भर खाना भी नसीब नहीं इस कारण आदिवासियों में शौशव मृत्यू ज़ोरों पर हो रही है। मेनसस के समय स्त्रियाँ कपडे के अभाव के कारण मिट्टी या राख इस्तेमाल करते हैं। इस कारण यौन रोग से पीडित होते हैं। आदिवासी लडकियाँ दिन-भर शोषण का शिकार हो रही हैं। बिन ब्याहे माँ से आदिवासी समुदाय भरा पडा है। ज़्यादेतर लडकियाँ अठारह साल के कम उम्र की है।

आदिवासी को अब अपना ज़मीन ही नहीं माँ-बेटी को बचाने के लिये प्रतिरोध करना पडता है। बरसों की दासता या गुलामी की ज़ंजीर तोडकर आदिवासी अपने अत्याचारों के विरुद्ध प्रतिरोध कर रह हैं। ऐसे लोगों को नक्सलेट का नाम देकर बेरहमी से मारते हैं। नक्सलेट के नाम पर भोलेभाले आदिवासी ही शिकार हो रहे हैं।

## निष्कर्ष

भारत की जनसंख्या का एक बडा हिस्सा आदिवासियों का है। आदिवासी शब्द का अर्थ 'मूल निवासी' है। स्पष्ट रूप में कहे तो अपगत, पिछडा, अज्ञानी, समान बोली बोलनेवाला, संस्कृति का रक्षक, प्रकृति की गोद में जीवन-यापन करने वाला भारत भू की संतान है 'आदिवासी'।

हमारे देश को आज़ाद हुए कई वर्ष बीत गए परन्तु जिन लोगों का या क्षेत्र का विकास नहीं हुआ वह आदिवासी तथा उनका क्षेत्र है। भारत के प्रमुख आदिवासी जातियाँ गोंड, संथाल, भील, उराँव, गारो, कोरकू, बंजारा, असुर, मुंडा, खासी, नागा आदि है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में रहनेवाले आदिवासी समाज एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। प्रत्येक आदिवासी की अपनी निजी विशेषताएँ होती हैं। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर भी भिन्न है।

जनजाति संस्कृति में भारतीय संस्कृति की मौलिकता और उसका आदि रूप अक्षुण है। संस्कृति का प्रतीक त्यौहार है। आदिवासी हर क्षण को मनाते हैं। जन्म, मृत्यू, विवाह आदि पर नाच-गाना होते हैं। ज्यादातर आदिवासी अंधविश्वासी होते हैं। जादू - टोना, झाड- फूक, बलि आदि में विश्वास रखते हैं। विवाह वे उत्सव के तरह मनाते हैं। कई आदिवासी अपने जाति से विवाह नहीं करते तो कुछ लोग अन्य आदिवासी वर्ग से विवाह नहीं करते हैं। सभ्य समाज के लोगों की तरह शादी में आदिवासी लोग दहेज नहीं लेते बल्कि वधूमूल्य देते हैं। वधुमूल्य देकर वे शादी करते हैं। इसलिए दहेज के नाम पर सास-बहू की लडाई या खून- खराबा वहाँ नहीं होते। आदिवासी समाज में ज्यादातर संपत्ति का उत्तराधिकारी पुरुष होते हैं। स्त्रियाँ घर और बाहर के काम में भी पुरुष की सहायता करती हैं। आदिवासी हिन्दू धर्म से निकट

संबंध रखते हैं। लेकिन बाहर के लोगों से संपर्क रखने के कारण उनमें धर्म परिवर्तन हो रहे हैं। ईसाई, बौद्ध धर्म को अपनानेवाले कई आदिवासी आज नज़र आते हैं। आदिवासी समूह की संथाली और बोडो भाषा को ही संविधान में सम्मिलित किया है। भले ही आदिवासी अशिक्षित हो किन्तु उनकी अपनी परंपरा है, अपनी जीवन है, तथा अपना इतिहास है।

आधुनिकीकरण की रफ्तार बडी तेज़ी से आदिवासी जीवन में विकास ला रही है और इस विकास की बडी कीमत विस्थापन और नये शोषण चक्र के रूप में इन्हें चुकानी पडी है। पिछले दो दशकों से हिन्दी साहित्य में जनजातीय समाज और संस्कृति के प्रति एक नया रुझान विकसित होता दिखलाई पड रहा है। साहित्य सृजन की दृष्टि से आदिवासी समुदायों में प्रचलित वाचिक साहित्य या जनजातीय लोक साहित्य ही आदिवासी साहित्य है। आदिवासी समाज को केन्द्र में बनाकर आदिवासी और गैर आदिवासी साहित्यकारों द्वारा साहित्य रचनाएँ हो रही हैं। कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, काव्य आदि में आदिवासी जीवन, समाज, संस्कृति और आदिवासी लोकरंग को दर्शाया है। फिर भी ऐसे साहित्य को आदिवासी साहित्य नहीं माना जा सकता है। आदिवासी समाज और आदिवासी मन की व्यथा-कथा को आदिवासी ही समझ सकते हैं। गैर आदिवासी उनके आंतरिक सांस्कृतिक सूक्ष्मताओं को नहीं समझ सकता है और अनेक आदिवासी भावों को व्यक्त करने में सक्षम नहीं है।

वास्तव में आदिवासी साहित्य आदिवासियों की पीडा की अभिव्यक्ति है। उनके जीवन की विषमताओं, कठिनाइयों, समस्याओं की अभिव्यक्ति आदिवासी साहित्य की पहचान है।

आज़ादी से पहले आदिवासियों की मूल समस्याएँ वनोपज पर प्रतिबंध, तरह-तरह के लगान, महाजनी शोषण, पुलिस की ज्यादतियाँ आदि हैं। जबकि आज़ादी के बाद भारतीय सरकार द्वारा अपनाए गए विकास के गलत कदमों ने आदिवासियों से उनके जल, जंगल और ज़मीन छीनकर उन्हें बेदख़ल कर दिया। विस्थापन उनके जीवन की मुख्य समस्या बन गई। इस प्रक्रिया में एक ओर उनकी सांस्कृतिक पहचान उनसे छूट रही है, दूसरी ओर उनका अस्तित्व की सुरक्षा का प्रश्न खडा हो गया है। इसलिए आज का आदिवासी विमर्श अस्तित्व और अस्मिता का विमर्श है।

जो आदिवासी इस देश के मूल निवासी थे आज अशिक्षा, गरीबी, अंधविश्वास बेरोज़गारी, बीमारी आदि से ग्रस्त है। आदिवासी के विकास हेतु स्कूल। अस्पताल और कई आयोजन हेतु करोडों रुपये सरकार द्वारा ख़र्च किये गये लेकिन आदिवासी आज भी अभाव में जी रहे हैं।

शिक्षा के कारण आदिवासी समाज के सोच विचार में बदलाव आ रहे हैं। अत्याचारों के विरुद्ध उनकी आवाज़ बुलन्द हो रही है। लेकिन यह सब कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित है। गरीबी के कारण शैशव मृत्यु ज़ोरों से हो रहे हैं। बाहर के लोगों के संपर्क से बिन ब्याही माँ से आदिवासी समाज भर गये है। आज आदिवासियों को अपना ज़मीन ही नहीं बल्कि बहू बेटी को बचाने के लिये भी प्रतिरोध करना पड रहा है। शोषण, अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाले आदिवासियों को नक्सलेट नाम देकर बेरहमी से मौत के घाट उतारते हैं।

आदिवासी समाज परस्पर सहयोग की भावना से चलते हैं। सामाजिक, धार्मिक, एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों में सामूहिक भावना उसमें नज़र आती है। सामूहिक जीवन दृष्टि के कारण वे आसन्न संकटों को आसानी से झेल जाते हैं।

आदिवासियों का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश दलितों से भिन्न ही नहीं बल्कि अलग भी है। आदिवासियों के साथ अस्पृश्यता की समस्या उतनी बडी नहीं थी, चूँकी वे समाज से ही अलग-थलग थे। इसलिए आदिवासी एक राजनीतिक अवधारणा है जबकि दलित एक सामाजिक अवधारणा है।

आदिवासी लोग पिछडे हुए नहीं है और उन्हें पीछे छोडा नहीं गया है, वे अपने तरीकों से, अपनी ज़मीन पर, अपनी मर्जी से रहते हैं। स्वााभीमानी है पर आदिम नहीं है। उनके स्वाभिमान ने ही उन्हें मुख्य धारा से दूर वन कन्दराओं, जंगलों में रहने के लिये बाध्य किया है।

## सन्दर्भ सूची


1. ए. वाय कोडेकर- भारतीय आदिवासी समाज, पृ.6
2. प्रो. प्रेमचन्द जैन- आदिवासियों के बीच, पृ.17
3. वही, पृ.3
4. डॉ. विजय शंकर उपाध्याय तथा विजय प्रकाश शर्मा- भारत की जनजातीय संस्कृति, पृ.3
5. प्रो. प्रेमचन्द जैन- आदिवासियों के बीच, पृ.18
6. डॉ. गोविन्द गारे- महाराष्ट्र के आदिवासी जमाति, पृ.2
7. वही, पृ.1
8. डॉ. शिवकुमार तिवारी- भारत की जनजातियाँ, पृ.3
9. डॉ. दा.बो काचोले- आदिवासी समाज शास्त्र, पृ.2
10. रमणिका गुप्ता- आदिवासी कौन, पृ.5
11. प्रभाकर मांडे- भारतीय आदिवासी : विकासाच्या समस्या, पृ.10-11
12. डॉ. पी.आर.नायडू- भारत के आदिवासी, पृ.8
13. आलोचना- अप्रैल-जून, पृ.47
14. गुरुनाथ नाडगोंडे- भारतीय आदिवासी, पृ.3-4
15. वामन मेश्राम- मूल निवासी बहुजन सिद्धान्त संकल्पना एवं व्यवहार, पृ.5
16. श्रृति नागवंशी- जनसत्ता- एकलव्य का अंगूठा, पृ.26
17. रमणिका गुप्ता- अखिल भारतीय आदिवासी विशेषांक, पृ.5

18. बी.पी. वर्मा- उरावली उद्घोष, पृ.15

19. रमणिका गुप्ता- आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, पृ.6

20. रमणिका गुप्ता- आदिवासी साहित्य यात्रा, पृ.30

21. बी.डी. गुप्त- साहित्य समाज समीक्षा, पृ.128

22. डॉ. मदन गोपाल- मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति, पृ.1

23. डॉ. चंडीप्रसाद जोशी- हिन्दी उपन्यास समाज शास्त्रीय समीक्षा, पृ.128

24. विजय चौरासिया- गोंडवाना की लोककथाएँ, पृ.5

25. वेरियर एलविन- महाकोशल अंचल की लोककथाएँ, प्राक्कथन से

26. कृष्ण कृपलानी- आधुनिक भारतीय साहित्य, पृ.11

27. रमणिका गुप्ता- आदिवासी साहित्य यात्रा, पृ.24

28. प्रो.जी. गोपिनाथन- आठवाँ विश्व हिन्दी सम्मेलन आलेख और प्रतिवेदन, पृ.212

29. रमणिका गुप्ता- आदिवासी साहित्य यात्रा, पृ.25

30. डॉ. बदरी प्रसाद- प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास, पृ.117

JYOSMI. K. “A STUDY OF TRIBAL LIFE IN HINDI SCREENPLAY”. THESIS. DEPARTMENT OF HINDI, UNIVERSITY OF CALICUT, 2018.

## दूसरा अध्याय

# साहित्य विधा के रूप में पटकथा का विकास

## 2.1 पटकथा एक संक्षिप्त परिचय

फिल्मों के व्यावसायिक और कलात्मक नज़रिए से सफल होने के लिये आधारभूत तत्व के नाते कथा, पटकथा और संवादों के बहुत अधिक एहमियत है। सिनेमा निर्माण के प्रमुख तत्व पटकथा है। हर सिनेमा के लिये कहानी की आवश्यकता है उस कहानी को सिनेमा के अनुसार बदलकर तैयार करनेवाला प्रारूप ही पटकथा है। कहानीकार को तो पूरी छूट होती है कि वह अपनी कहानी किसी भी शैली में लिखे। उत्तम पुरुष में लिखे या अन्य पुरुष में... डायरी फॉर्म में लिखे या पत्रों के रूप में... तरह-तरह के प्रयोग करने की पूरी छूट होती है लेकिन पटकथा लेखक को तो सारी कहानी को दृश्यों और संवादों में ढालकर प्रस्तुत करना होता है। कहानीकार के लिये समय की भी कोई सीमा निर्धारित नहीं है लेकिन पटकथाकार को ढाई घंडे के सिनेमा के लिये अपनी पटकथा को सीमित रखना पडता है। पटकथाकार का कौशल, मेहनत और कलाकारिता इसीसे ज़ाहिर होते है।

फिल्म निर्माण के लिये आवश्यक पहला असंस्कृत वस्तु पटकथा है। फिल्मी क्षेत्र के विशेषताओं को आत्मसात करके पटकथा तैयार की जाती हैं। जिस तरह नाटक का मंच पर साक्षात्कार होता है उसी प्रकार पटकथा पर्दे पर जीवित होती है।

### 2.1.1 पटकथा अर्थ एवं परिभाषा

कहानी की फिल्मी ढाँचे के तहत विकसित रूप है पटकथा जो फिल्मों के आधारभूत तत्व है। पटकथा किसी फिल्मी या दूरदर्शन कार्यक्रम के लिये लिखा गया कच्चा चिट्ठा होता है। यह मूल रूप से भी लिखा जा सकता है और किसी कहानी या उपन्यास के लिए भी तैयार किया जा सकता है।

पटकथा अंग्रेज़ी शब्द 'स्क्रीन प्ले' का अनुवाद है। पटकथा में संवाद और संवादों के बीच होनेवाली घटनाओं व दृश्यों का विस्तृत ब्योरा होता है। जब तक साहित्य कहानी के विधा में होती है तब तक पटकथा की ज़रूरत नहीं होती क्योंकि तब वह केवल पठनीय मात्र होती है। किन्तु उसे जैसे ही पर्दे पर लाने की कोशिश की जाती है तब इस कहानी में दृश्यात्मक तथ्यों को वास्तविक रूप में दिखाने के लिए पटकथा की ज़रूरत पडती है।

पटकथाकार वह पहला व्यक्ति होता है जो फिल्म को परदे पर उतरने से पहले देखता है। अपनी कल्पना की आँख से उसके सामने से कई अदृश्य चित्र सरकने लगते है और उसे वह संक्षेप में कागज़ पर उतारता है। उन्हीं उतरे हुए दृश्यों को पटकथाकार शब्दों में पकडता है और कागज़ पर उतारते है। यह आसान कार्य नहीं है उसके लिए कल्पना, प्रतिभा, तपस्या, मेहनत और कौशल की ज़रूरत होती है। पटकथा लेखन अचानक नहीं होता इसके लिये उस क्षेत्र से जुडे रहना और अभ्यस्त होना ज़रूरी है।

पटकथा लेखन एक चरणबद्ध प्रक्रिया है। इसके कुछ मौलिक सिद्धान्त है, जिसे जानना ज़रूरी है। कहानी या कथा किसी की भी हो सकती है। एक पटकथाकार केवल उस कहानी या कथा को एक निश्चित उद्धेश्य यानी फिल्मों के निर्माण के लिए लिखता है, जो पटकथा कहलाती है। पटकथा लेखन के लिए सबसे शुरूआती चरण है कि कथा को प्रस्तावना, संघर्ष और समाधान इन तीन बिन्दुओं पर कसकर रखें। फिल्मों में भूतकाल में चलती मूल कहानी को वर्तमान के साथ जोडने का काम पटकथाकार करता है। फिल्मों की सफलता और असफसता कहानी और पटकथा पर निर्भर होता है।

पटकथा के लिये कहानी चुनते वक्त यह ध्यान देना है कि कहानी मौलिक, प्रासंगिक, स्वाभाविक और मनोरंजक हो। इसके साथ-साथ कहानी के तत्वों और पात्रों के बीच संतुलन होना चाहिए। कहानी का परिवेश स्पष्ट और चरम उत्कर्ष प्रदान करनेवाला हो। निर्माताओं को कहानी का सही चुनाव करना चाहिए। निर्माता का एक गलत कदम उन्हें आर्थिक नुक्सान की ओर ले जायेगा। यह सिर्फ उनका ही नहीं बल्कि उस फिल्म से जुडे हर व्यक्ति का नुक्सान है। यह पूर्णतः स्पष्ट है कि पटकथा लेखन आसान नहीं है। यह सच है कि पटकथाकार बनने के लिये अच्छा साहित्यकार बनने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन इस बात से इन्कार नहीं है कि अच्छे पटकथाकार उच्चकोटि के साहित्यकार भी रहे है।

पटकथा दो प्रकार से किये जाते है- वनलाइनर पटकथा और संपूर्ण पटकथा। वनलाइनर यानी बिना संवाद संक्षिप्त दृश्यमय कहानी। इससे पूरी फिल्म की झलक मिल जाती है। लिहाजा समयाभाव में पूरी पटकथा पढने के लिए निर्माता और निर्देशक लंबा समय नहीं निकाल पाते। ऐसी स्थिति में वनलाइनर पटकथा का खास महत्व है। वनलाइनर अगर सही लिखी गयी होती तो, इसका सबसे बडा लाभ यह है कि फिल्म के कथानक में भटकाव नहीं आता है और फिल्म की कहानी की गति तय किया गये उद्देश्य के साथ आगे बढती रहती है जो कि एक सफल फिल्म की पहचान होती है। असल में किसी फिल्म का वनलाइनर उस फिल्म की कहानी की घटनाओं को शुरुआत से लेकर अंतिम तक बताने का एक बढिया तरीका है। अर्थात् यह किसी फिल्म की कहानी को घटना- दर-घटना बिन्दुवार प्रस्तुत करने की प्रक्रिया है।

दूसरा है-संपूर्ण पटकथा। फिल्मांकन के पहले लेखक, निर्माता, निर्देशक आदि बैठकर तय करते हैं कि सीन को कैसे विस्तरित किया जायेगा और कहानी में क्या

जोडना है, क्या छोडना है इस चर्चा के उपरांत ही संवाद लेखक को काम सौपता है। संपूर्ण पटकथा लिखने के लिये लेखक को फिल्म निर्माण की सारी तकनीकी जानकारियाँ होना आवश्यक है। इससे समय एंव पैसों की बचत होती है और पटकथा भी अच्छी बनती है।

फिल्मी पटकथा की परिभाषा देते हुए असगर वजाहत कहते हैं "पटकथा, कथा का वह रूप है जिसके आधार पर निर्देशक बनाए जानेवाली फिल्म के भावी स्वरूप का अनुमान लगाता है।"[1] इससे अलग हूबनाथ ने पटकथा की परिभाषा इस प्रकार दी है- "कथा और पटकथा मात्र दो ऐसे तत्व हैं जो यंत्र के मोहताज नहीं है। कथा, विचारबीज के रूप में जनमती है और पटकथा जिसे चित्रनाट्य भी कहते हैं उस विजारबीज का मुकम्मल ढाँचा रचती है।"[2] लकिन नाघ और व्ही आके के अनुसार "पटकथा सिनेमा का ब्लू प्रिन्ट है।"[3] सिड फील्ड का कहना है- "पटकथा कथा को चित्र तथा दृश्यों के माध्यम से बयान करती है तथा हर फिल्म एक कथा बयान करती है।"[4] राजेन्द्र पांडे के अनुसार- "पटकथा यानी सिनेमा, टेलीविजन तथा वृत्तचित्र माध्यम हेतु किया गया विस्तृत लेखन। यह एक अलग शैली का लेखन है, इसलिए इसका नाम भी अलग है, पटकथा लेखन। पटकथा लेखन में कथा-लेखन समाया हुआ है। लेकिन यह कथा लेखन के बाहर के तत्वों को भी अपने में समेटे हुए हैं।"[5] कई विद्वान पटकथा को फिल्म का ढाँचा मानते है तो कई कच्चा रूप। लेकिन मनोहरश्याम जोशी पटकथा के संदर्भ में कहते हैं "पटकथा कुछ और नहीं केमरे से फिल्माकर परदे पर दिखाए जाने के लिए लिखी हुई कथा है।"[6] पटकथा के माध्यम से फिल्म का रूप प्राप्त हो जाता है। डॉ. अनुपम ओझा पटकथा को स्पष्ट

करते हुए कहते हैं- " पटकथा लेखन का सामान्य अर्थ है- विभिन्न उपक्रमों को एक दूसरे से इस तरह से जोडना कि एक मुकम्मल कहानी चित्रित हो उठे। यानी स्क्रीन पर उभर आये।"[7] कथा को पटकथा में परिवर्तित करने के लिए पटकथाकार के पास उतनी क्षमताएँ तथा कुशलता होना आवश्यक है। पटकथा फिल्म का सैद्धांतिक रूप होता है तो दृश्य फिल्म का व्यावहारिक रूप होता है। पटकथा को फिल्म का पैपर वर्क होता है यह कहते हुए B.V.P कहते है-"Screenplay is the name given to the 'paper work' from which the motion picture is shot or produced, just as the stage play is staged from the written dramatic play."[8]

पटकथा में तकनीक का होना अनिवार्य है अर्थात एक अच्छे पटकथाकार को तकनीक की पूरी जानकारी आवश्यक है। इस संदर्भ में अजीज मिर्जा का कहना है "पटकथा की तकनीक से अधिक महत्वपूर्ण है लेखक का पैशन (जज्बा)। बगैर पैशन की पटकथा पर बनाई गई फिल्म बेमतलब, उद्देश्यहीन और निर्जीव होती है। जिसको अगर न बनाया गया होता, तो अच्छा होता।"[9] मिर्जा जी के अनुसार तकनीक के साथ पटकथाकार के जज्बों को अधिक महत्व दिया है। इस संदर्भ में कुन्दन शाह का कहना है- "पटकथा एक कभी समाप्त न होनेवाला कार्य है। जिस दिन आपकी यह भ्रम हो गया कि आप इस कार्य में दक्ष हो चुके है, जिस दिन से आपका पतन शुरू हो जाएगा।"[10] शाह जी के अनुसार पटकथाकार को समय के साथ चलना चाहिए इससे अपनी प्रतिभा को बचाये रखने के साथ पटकथा में नयापन लाने में भी वे कामयाब हो जाते हैं। इससे भिन्न परिभाषा विष्णु मोहरोत्र का है- "पहले फिल्म कागज़ पर बनती है, फिर सेलोलाईट पर उतरती है। कागज़ पर

फिल्म बनने अर्थात् लिखने का प्रमुख एक्ट, यह प्रक्रिया ही पटकथा है।"[11] विष्णु जी के अनुसार पटकथा फिल्म का प्रारूप होता है।

उपर्युक्त परिभाषा में पटकथा पर विभिन्न तरीकों से नज़र डाले है। असगर वजाहत पटकथा को फिल्म का भावी स्वरूप मानते हैं। हूबनाथ के नज़रिए से पटकथा कथा का मुकम्मल ढाँचा है। इससे अलग सी नाघ और व्ही-ओके पटकथा को फिल्म का ब्लूप्रिन्ट मानते है। सीड फील्ड के अनुसार पटकथा दृश्यों द्वारा कथा का बयान करता है। राजेन्द्र पांडे के अनुसार पटकथा सिनेमा, टलिविज़न तथा वृत्तचित्र के लिये किया गया विस्तृत लेखन है जो बाहरी तत्वों को भी अपनाता है। इससे बिल्कुल अलग मनोहरश्याम जोशी ने पटकथा को फिल्म के लिये लिखी कथा कहा है। डॉ. अनुपम ओझा ने परदे पर चित्रित होनेवाली कहानी की प्रक्रिया को पटकथा की उपमा दिया है। बी.वी.पी ने पटकथा को पेपरवर्क कहा है। अजीज मिर्जा पटकथाकार के जज्बे को पटकथा में निहित माना है। कुन्दन शाह ने पटकथा को कभी न समाप्त होनेवाला कार्य मानकर उसमें कालानुसार परिवर्तन आना भी अनिवार्य माना है। विष्णु मोहरोत्र ने फिल्मी प्रारूप को पटकथा माना है।

उक्त परिभाषाओं के अध्ययन से एक सरल और समन्वित परिभाषा बनायी जा सकती है कि "पटकथा का अर्थ है फिल्म का ऐसा पेपर वर्क जिसके माध्यम से फिल्म का प्रारूप तैयार होता है जो निर्देशक, कलाकार, संवाद लेखक तथा फिल्म निर्माण से संबंधित सभी विभागों को फिल्म निर्माण के लिए मदद होती है, और फिल्म की लिखित रूप कथा को परदे पर दृश्य श्रव्य के रूप में परिवर्तित करने का एक माध्यम है।"[12]

## 2.2 पटकथा का स्वरूप

कहानी और सिनेमा की पटकथा में ज़मीन-आसमान का फरक होता है। सिनेमा की पटकथा लिखते वक्त लेखक को सिनिमाई जानकारी आवश्यक है। फिल्में बनती कैसी है और उसका उद्देश्य क्या है, यह भी जानना ज़रूरी है। कायदे से देखा जाय तो जहाँ अन्य कलाएँ अपना अलग अलग अस्तित्व रखती है वही सिनेमा उन सभी कलाओं को अपने में समाहित कर लेती है, यानी सिनेमा का 'कैनवास' कला की किसी अन्य विधा से काफी बडा है। इसलिए इसका प्रभाव भी उन कलाओं से ज्यादा व्यापक है। संक्षेप में कहा जाए तो सिनेमा की प्रभावशीलता और उसकी व्यापकता के कारण ही लोग उसे देखते हैं। सिनेमा दृश्य और श्रव्य का बेजोड माध्यम है, जो हमारी आँखों और कानों को तृप्त करती है और हमारी लिप्सा, कुण्ठा और भावों व मनोभावों का प्रतिनिधित्व कर हमें तुष्ट करती है। इसलिए पटकथाकार को पहले फिल्म बनाने के तरीके और उसके तकनीक की बारीकियों पर भी गौर फरमाना पडता है। अगर फिल्म के बारे में बिना कुछ जाने- समझे पटकथा लिखने बैठे तो कई गलतियाँ होगीं और गलतियों के साथ बनी फिल्में व्यावसायिकता की कसौटी पर सबका नुकसान करेगी। अब सभी निर्माता- निर्देशक अपनी मुनाफा या नुकसान के बारे में सतर्क रहते हैं। प्रत्येक फिल्म उनके लिये कमाई का ज़रिया होता है।

अगर लेखन फिल्म तथा टेलिविज़न माध्यम की आत्मा है तो पटकथा पूरी लेखन की आत्मा है। पटकथाकार अपनी लेखन प्रतिभा और बेजोड कल्पनाशाक्ति के समुचित उपयोग से एक अद्‌भुत पटकथा का सृजन करता है। पटकथा लेखन के लिए सबसे बडी ज़रूरत है, एक रोचक कहानी की। कहानी के आधार पर पटकथा के

रूप में संपूर्ण फिल्म का रेखाचित्र तैयार किया जाता है। यदि निर्देशक स्वयं कथा-पटकथा लेखक है तो उसके लिए फिल्म की पटकथा का विस्तार करना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है, परन्तु यह हमेशा संभव नहीं होता। पटकथा लेखन एक सृजनात्मक कार्य है, तो दूसरी ओर व्यवसाय भी। पटकथा लेखन का स्वरूप समझाते हुए डॉ. अनुपम ओझा कहते है- "लेखन की छोटी इकाई शब्द या वाक्य है, किन्तु पटकथा लेखन की छोटी इकाई शॉट है। वाक्यों को जोडने से पैराग्राफ बनता है, शॉटस को जोडने से दृश्य (अथवा सीन) बनता है। शॉट, सीन और सीक्वेंस के मिलने से पटकथा बनती है। शॉट का सामान्य अर्थ है, कैमरे का शटर खुलने और बंद होने के बीच का दृश्यांकन यह सामान्य अवधारणा है कि जैसे शॉटस को जोडने से सीन बनता है। सीन्स को जोडने से सीक्वेंस बनता है तथा शॉट सीन और सीक्वेंस क्रमशः एक दूसरे से बडे होते हैं। पटकथा का आधार कहानी होती है। कहानी किसी एक आयडिया, प्लॉट या थीम पर खडी की जाती है। कहानी को चलचित्र की भाषा में ढालने के कार्य को पटकथा- लेखन कहा जाता है।"[13] ओझा के अनुसार फिल्म का मूल आधार कहानी है। इस कहानी को फिल्मी भाषा में उतारने का कार्य पटकथाकार करता है। पटकथाकार को फिल्म निर्माण की सभी पहलुओं पर प्रकाश डालना पडता है। लोकेशन, सेट, सीन, शॉट, ऑडियो, वीडियो, पात्र आदि की जानकारी होना ज़रूरी है। पटकथाकार को दर्शकों की नज़रिए से कहानी को देखने की प्रतिभा होनी चाहिए तभी पटकथा सफल बनते हैं।

पटकथा लेखक और लेखन फिल्मों के लिए आरंभिक सीढी है और इस सीढी का अतुलनीय तराशा हुआ तथा ताकतवर होना ज़रूरी है, अगर यह नहीं तो पटकथा का कोई मोल नहीं और पटकथाकार का भी मोल नहीं। ऐसे कई उदाहरण हिन्दी

और अन्य भारतीय तथा विश्व भाषाओं की फिल्मी दुनिया में देखे जा सकते हैं कि जो एक साहित्यकार के नाते सातवें आसमान पर चढे लेकिन एक पटकथा लेखक के नाते धराशायी हो गए।

हिन्दी साहित्यकार और कथाकार के नाते मुंशी प्रेमचंद, भगवतीचरण वर्मा, सुदर्शन, जैनेन्द्र कुमार जैसे नामी लेखक जब सिनेमा से जुडकर पटकथाकार बनते हैं तो फिल्मी दुनिया की तकनीक से अंजान है तो वे असफल होते हैं। अंततः इन बडे लेखकों को फिल्मी दुनिया से निराश होकर लौटना पडता है। लकिन राही मासूम रज़ा और कमलेश्वर जैसे लेखक फिल्मी दुनिया की तकनीक से आदी हो गए तो वे सफल साबित हुए। कमलेश्वर कहते हैं- "कुछ अनुभवी शब्दों से परे होते हैं, कुछ दृश्यों से परे, इसलिए फिल्म लेखन में उन्हें शब्दों, दृश्यों और ध्वनियों से बाँधना पडता है। शब्दहीन दृश्य से भरा हुआ सन्नाटा कभी-कभी जो बात कह देता है, वो शब्दों से नहीं कही जा सकती। काव्य की बिंब क्षमता, शब्दों की विचारक्षमता और दृश्यों की अनुभव क्षमता के संयोग से एक सिने दृश्य आकर पाता है। काव्य क्षमता को कैमरा, दृश्य- क्षमता को निर्देशक और विचार क्षमता के साथ-साथ संपूर्ण अनुभव क्षमता की अभिव्यक्ति लेखक करता है। इसलिए कोई भी सार्थक फिल्म पहले लिखी जाती है- तब 'बनाई' जाती है।"[14] कमलेश्वर के अनुसार अपने अनुभव क्षमता की अभिव्यक्ति पटकथाकार को पटकथा में उतारकर उसे शब्दों, ध्वनियों और दृश्यों में बाँधकर रखना है।

"पटकथा लेखन आम लेखन से बिल्कुल दूसरी तरह का लेखन कार्य है, जिसे दृश्यों के आधार पर लिखा जाता है, वह व्यक्ति उतना ही अधिक सफल पटकथाकार होता है, जिसे लेखन के साथ-साथ निर्देशन, संपादन, और छायांकन का भी अनुभव

हो। इसलिए यह आवश्यक है कि सफल पटकथा लेखक बनने हेतु निर्देशन, संपादन और छायांकन का कुछ- न-कुछ अनुभव होना चाहिए।"[15]

पटकथा पूरी यूनिट के लिए लिखी जाती है और यूनिट में तकनीकी और गैर तकनीकी सभी तरह के लोग होते हैं। पटकथा के संदर्भ में निर्देशक की केन्द्रीय भूमिका होती है। निर्देशक पटकथा के आधार पर शूटिंग स्क्रिप्ट बनाता है। पूरे दृश्य को शॉट्स में विभाजित करता है, प्रोडक्शन वाले शूटिंग शेड्यूल बनाते हैं ,वाडरोब वाले कपडों का सामान का हिसाब-किताब रखते हैं। कैमरामैन छायांकन के लिये प्रकाश व्यवस्था तय करता है। अभिनेता अपने संवाद देखते है। इस तरह पटकथा पूरी यूनिट का बाइबल बन जानी है। पटकथा के बिना शूटिंग तो हो सकती है, पर अव्यवस्था हो जाने की संभावना रहती है। संसार के कुछ बडे-बडे फिल्म निर्देशक स्क्रिप्ट के बिना ही फिल्में बनाते थे। पूरी पटकथा उनके दिमाग में होती थी। अब ऐसा नहीं होता।

पटकथा लेखन के संबंध में मन्नू भंडारी का कहना है कि उन्होंने किसी विधिवत ढंग से नहीं बाल्कि फिल्म निर्देशक बासु चटर्जी के साथ काम करते पटकथा लेखन सीखा है। एक दो पटकथाएँ और फिल्म के पर्दे पर उनकी प्रस्तुती ने मन्नु जी को पटकथा लेखन के बुनियादी पक्षों से परिचित कराया और फिर वे पटकथाऐं लिखने लगी। उन्हीं के शब्दों में "मेरा सारा ध्यान स्थितियों और घटनाओं के दृश्य रूपान्तर पर ही केन्द्रित रहता है। जब इन दृश्यों की एक पूरी श्रृंखला तैयार हो जाती है तो फिर कहानी को सीढी-दर-सीढी चरम की ओर ले जाने के लिए उन दृश्यों को नए सिरे से व्यवस्थित करना होता। और इस प्रक्रिया में उनमें उलट-फेर तो होती ही है और, क्रमबद्ध ढंग से विकसित की गयी यह दृश्यावली जब मन की

आँखों के सामने बिना किसी अवरोध से फिल्म की पूरी रील की तरह गुज़र जाती है, तभी मैं कलम हाथ में लेती हूँ।"[16] यहाँ स्पष्ट है कि मन्नू जी चाहे पटकथा लेखन की प्रचलित तकनीक के अन्तर्गत न लिखती हो, पर वे पटकथा लेखन के मूल सिद्धान्त से अच्छी तरह परिचित हैं। मन्नू जी की प्रतिभा ने परंपरावादी पटकथा लेखन शैली को चुनौती दे दी है।

पटकथा लेखन का सही स्वरूप तो वही होगा, जो दृश्य-श्रव्य के अनुकूल हो। पटकथा लेखन में यह ध्यान रखना चाहिए कि पटकथा प्रभावकारी हो, उसके प्रभाव से दर्शक, पाठक, श्रोता के मन को आनन्दित करने की ताकत पटकथा में होनी चाहिए। पटकथाकार अपनी पटकथा को कागज़ पर लिखने से ज़्यादा प्रभावी फिल्म बनने पर निखरता है। फिल्म में अधिक प्रभाव निखारने वाली पटकथा की ज़रूरत है। यह ज़रूरी नहीं कि पटकथा कहानी की पूरी प्रतिछाया हो। लेखक कहानी के किसी एक बिन्दु से भी पटकथा शुरु कर सकता है जो कहानी का प्रारंभिक बिन्दु न हो।

कहानी सब कहते हैं- बालक, नानी-दादी, साहित्यकार,एक फिल्म भी कहानी कहती है। इन सबों की वर्णन शैली में मौलिकता में अंतर होता है। बालक के कहानी वर्णन में अधूरापन, दादी-नानी की कहानी में स्थूलता होता है, लोक कथा में एक बोध देने या एक संदेश पहूँचाने की छुपी प्रवृत्ति, साहित्यकार के कथा वर्णन में विश्लेषणात्मकता, वैज्ञानिकता, सूक्ष्मता और यथार्थवाद होता है। मगर फिल्म की कहानी तकनीक और सामग्री को ज़रिया बनाकर कही जानेवाली कहानी है। पटकथा लेखक कहानी को दृश्यात्मक रूप में देखता है और कहानी के जो प्रसंग किसी खास तरह के विज्वल की माँग करते हैं उन्हें पूरा करता है। पटकथा कहानी को उस रूप में

प्रस्तुत करती है जिस रूप मे वह पर्दे पर दिखाई देगी। यह ज़रूरी नहीं कि कहानी के क्रम से ही पटकथा लिखी जाए। कहानी की प्रत्येक घटना एक निश्चित स्थान पर निश्चित समय में घटित होती है। अतः एक स्थान और एक समय पर घटनेवाली घटना से दृश्य बनता है। पटकथा लेखन में छोटी और बडी घटनाओं को स्थान और समय के आधार पर सूचीबद्ध किया जाता है। कहानी में किसी घटना का स्थान या समय बदल जाने से पटकथा के भी दृश्य बदल जाते हैं। कहानी छोटी-बडी घटनाओं का एक संकलन होती है। समय और स्थान के आधार पर सीन बनते हैं। एक फीचर फिल्म की कहानी में प्रायः 100 से 150 सीन होते हैं। पटकथाकार दृश्यों को आपस में जोडने के लिए कुछ ऐसे दृश्यों की कल्पना करता है, जो सब सीन कहे जाते हैं। इन उपदृश्यों में दो-चार शॉट्स होते हैं, लेकिन इससे दृश्य को स्थापित किए जाने में मदद मिलती हैं। पटकथा लेखन फिल्म की गति, रोचकता और नाटकीयता तथा चरित्र विकास को ध्यान में रखकर होना चाहिए।

फिल्म निर्माण में पटकथा लेखन का अपना महत्व है। हर कला का उद्देश्य अपने पूरे प्रभाव से दर्शक, पाठक, श्रोता तक पहूँचना होता है। पटकथा के प्रमुख तीन अंग है- कथा, पटकथा और संवाद। कथा तथा संवाद पटकथा के स्वतंत्र अंग है। तीनों अंगों में संतुलन रखना ज़रूरी है। ये तीनों एक दूसरे से मिले हुए हैं और एक दूसरे के पूरके हैं। पटकथा के स्वरूप को व्यक्त करते हुए डॉ.अनुपम ओझा पटकथा के ढाँचे को तीन भागों में बाँटते हैं- "पटकथा के स्वरूप को समझने के लिए पटकथा की तुलना एक सौ बीस पृष्ट की एक किताब से की जा सकती है। सामान्यतया एक पृष्ठ से तीस तक, मुख्य घटनाओं के संकेत तथा चरित्रों का परिचय अर्थात् कथा स्थापना, पृष्ठ तीस से नब्बे तक, मुख्य घटनाओं तथा द्वन्द्व को घटित

होना चाहिए, जिसे फिल्म की भाषा में कॉम्फ्रंटेशन कहते हैं। पृष्ठ संख्या नब्बे से एक सौ बीस के बीच पटकथा को कथा का उद्देश्य प्राप्त कर लेना चाहिए। पटकथा में प्लाट प्वाइंट, पच्चीस से सत्ताईस तक, मुख्य कथा शुरु होनी चाहिए। प्लाट प्वाइंट पच्चीस से नब्बे तक, मुख्य द्वन्द्व घटित हो जाना चाहिए तथा प्लाट प्वांइंट नब्बे से एक सौ बीस के बीच कथा का समाहार हो जाना चाहिए।"[17] डॉ. ओझा ने पटकथा में क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए इसका स्पष्टीकरण किया है।

पटकथा प्रमुखतः दो प्रकारों में लिखी जाती है।

1. किसी मौलिक कथासूत्र के आधार पर
2. किसी साहित्यिक रचना के आधार पर

किसी मौलिक कथा-सूत्र के आधार पर लिखी जानेवाली पटकथा को पहले कहानी का ढाँचा बनाना आवश्यक होता है। पटकथाकार अपनी अनुकूलता से उस ढाँचे को बना सकता है। लेकिन किसी साहित्यिक रचना के आधार पर पटकथा लिखनी हो तो उस कथा की साहित्यिकता, मूल संवेदना चरित्र/चित्रण आदि का ध्यान रखना पडता है। साहित्यिक रचनाओं पर पटकथा लेखन कठिन कार्य है।

कहानी का सृजक अपनी प्रतिभा के बलबूते पर कहानी की रचना करता है। उसका यह लेखन अपने अंतर की प्रेरणा का स्वरूप होता है। उसका लेखन करने के उद्देश्य स्वांतः सुखाय अधिक होता है। लेकिन यही कहानियाँ फिल्मों के भीतर पटकथा का स्वरूप धारणकर जब परदे तक का सफर तय करना शुरू करती है तब हर जगह पर उसके साथ व्यावसायिकता जुड जाती है। फिल्मों के अनुकूल पटकथा लिखना एक कला है। पटकथा लेखन अभ्यास, मेहनत और स्वाध्याय के साथ-साथ

एक व्यावसायिक लेखन है। नैसर्गिक प्रतिभा और रुचि एक साथ मिलते हैं तो पटकथा सफल हो जाते हैं। पटकथा लेखक केवल कहानी पढते और सुनते ही नहीं बल्कि समाज से जुडकर सामाजिक गतिविधियों पर पैनी नज़र रखते भी हैं। पटकथा लेखक बनने के लिये घटनाओं और परिघटनाओं का अच्छा प्रेक्षक और विश्लेषक होना आवश्यक है। एक सफल किस्सागो होना एक सफल पटकथाकार का महत्वपूर्ण गुण है। जिस भाषा में पटकथा लिखी जानी है, उस भाषा पर अच्छी पकड पटकथाकार को होनी चाहिए। उच्च कल्पनाशक्ति पटकथा लेखन की दूसरी सबसे बडी विशेषता है। जिनकी कल्पनाओं के घोडे जितनी तेज़ दौडती है, वे उतनी ही अच्छी पटकथाकार होते हैं। भाषाई रूप से समृद्ध होने पर पटकथाकार अपनी कल्पना को स्पष्टता से अभिव्यक्त कर सकता है। पटकथा पाठक द्वारा पढी नहीं जाती है बल्कि दर्शक द्वारा देखी और सुनी जाती है। असल में पटकथा एक कागज़ी और कच्चा दस्तावेज़ है। इसलिए पटकथाकार को दृश्य-श्रव्य का बोध होना ज़रूरी है। साथ ही पात्रों की बुनावट जबरदस्त होनी चाहिए। संघर्ष, द्वन्द्व के साथ संवादों को दर्शकों की माँग के अनुसार ढालना चाहिए। "The screen writer who wants to write his own original screenplay will need to begin with a powerful idea for a strong cinematic story line."[18]

पटकथा लेखन के लिए हर पात्र का इतिहास, बर्ताव, व्यक्तित्व, सामाजिक अस्तित्व, व्यवसाय, शिक्षा, धर्म आदि के बारे में पटकथाकार को पूरा ज्ञान होना आवश्यक है। यह इसलिए ज़रूरी है कि पटकथाकार उस चरित्र के साथ न्याय कर सके।

पटकथा में आरंभ, मध्य तथा अंत अनिवार्य तत्व है। जिसे पहला, दूसरा, तीसरा अंक नाम से जाना जाता है। पहले अंक में पात्र का परिचय तथा कथा का प्रारंभ होता है। परिस्थितियों और पात्रों की मनस्थिति का चित्रण होता है। पात्रों को एक-एक करके हमारे सामने पेश किया जाता है, कथा के मुख्य बिंदु से परिचय कराता है। पहला अंक रोचक बनाने के लिये पटकथाकार को कल्पना, बिंबों का भी सहारा लेना पडता है। "पटकथा के अगर पहले दस पन्ने रोचक न हो तो उसके आगे की कहानी को जानने की न तो किसी में उत्सुकता होती है और न ताब ही होता है।"[19] पटकथा का पहला अंक फिल्म की सफलता को व्यक्त करने की क्षमता रखते हैं।

पटकथा का दूसरा अंक महत्वपूर्ण है। उसमें समस्या का सृजन होता है। फिल्म की महत्वपूर्ण घटनाएँ इसी अंक में घटित होती हैं। फिल्म का आरंभ और अन्त आसानी से होता है लेकिन दूसरा अंक ज़्यादा महत्वपूर्ण है। दर्शकों के मन में कुतूहल भर कर आगे क्या होगा? यह देखने की जिज्ञासा। पैदा करना दूसरे अंक का महत्वपूर्ण ज़िम्मेदारी है। इंटरवेल से ठीक पहले आनेवाला सीन धमाकेदार होना है जो दर्शकों को बिठाकर रखने में कामयाब हो। दूसरे अंक में पात्रों के बीच का टकराव दर्शकों में रुचि के साथ दिलचस्पी भी बढायेंगे पटकथाकार और निर्देशक को यह ध्यान रखना चाहिए कि पात्रों की संख्या सीमित हो लेकिन हरेक पात्र को कथानक में एक स्पष्ट भूमिका दें। अच्छी पटकथा वह होती है जिसमें गौण-से-गौण पात्र की भी कहानी को आगे बढ़ाने में उपयोग किया जाय। पटकथाकार को इस बात का ध्यान रखना चाहिए ताकि दर्शकों को यह महसूस हो जाये। इस संदर्भ में मन्नू भंडारी का कथन है- "पटकथाकार का काम यह रहता है कि वह वर्णित सारी

बातों को ऐसे जीवन्त और पात्रानुकूल संवादों में ढालता चलें जिससे उस पात्र के जीवन की पूरी रील दर्शक की आँखों के आगे से भी गुज़र जाए।"[20] पटकथा में दूसरे अंक के अंत में नाटकीय मोड होना ज़रूरी है ताकि दर्शक तीसरा अंक देखने के लिये दिलचस्पी रखें।

पटकथा का तीसरा अंक कहानी को चरमोत्कर्ष पर पहूँचाकर किसी समाधान के साथ समाप्त होता है। पटकथा के पहले दो अंकों से तीसरा अंक उपजता है। तीसरे अंक में दर्शकों की उत्कंठा चरम सीमा पर पहूँच जाते हैं। चरमोत्कर्ष में समस्या का समाधान निकलता है और फिल्म समाप्त होता है। इस संदर्भ में मनोहरश्याम जोशी कहते हैं- "तीसरा अंक चरमोत्कर्ष की तैयारी, स्वयं चरमोत्कर्ष और समाधान दिखाने के लिये होता है। इसमें कहीं किसी तरह का ठहराव नहीं आना चाहिए। घटनाएँ तेज़ी से घटनी चाहिए और दर्शक के मन में जितनी भी जिज्ञासाएँ जगाई गई थीं उन सबका समाधान होना चाहिए।"[21] इस दायरे में रहकर पटकथा लेखन होता है तो फिल्म सफल होगी। पटकथा फिल्म निर्माण की अत्यंत महत्वपूर्ण अंक है। 'अच्छी पटकथा अच्छी फिल्म' ऐसा सूत्र ही बन चुका है। पटकथा फिल्म निर्माण में फिल्म के सभी विभागों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध होती है। पटकथा में दृश्यों की श्रृंखला होती है। पटकथा को कथा विचार, संक्षिप्त कथा, विकसित कथा, दृश्य रुपरेखा, व्यावहारिक रुपरेखा, पूर्ण संवाद, शूटिंग स्क्रिप्ट आदि चरणों से गुज़रना पडता है। पटकथा कल्पनाशैली और यथार्थवादी शैली में लिखी जाती है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि पटकथा लेखन फिल्म का एक महत्वपूर्ण अंग है। कथा को पटकथा में रुपांतरित किए बिना उसका फिल्मांकन

असंभव है। पटकथा केमरे द्वारा फिल्मी परदे पर दिखाने के लिये लिखी जाती है। पटकथा फिल्म का लिखित रूप होती है। जिसके सहारे निर्देशक फिल्म बनाते हैं। पटकथा को फिल्म निर्माण की पहली सीढी माना जाता है। पटकथा में आरंभ, मध्य तथा अंत अनिवार्य तत्व है। पहले अंक में पात्रों का परिचय तथा कथा का प्रारंभ होता है, दूसरे अंक में समस्या का सृजन और तीसरे अंक में समस्या के समाधान के साथ चरमोत्कर्ष निर्मिति के बाद फिल्म का समापन। इस दायरे में रहकर पटकथा लेखन होता है तो फिल्म सफल होगी। फिल्म निर्माण में पटकथा लेखन का उतना महत्व है कि किसी कहानी पर कामचलाऊ पटकथा लेकर फिल्म बनाये फिर उसी कहानी पर सारी विशेषताओं के साथ लिखी पटकथा के आधार पर भी फिल्म बनाये। ज़हिर है दोनों फिल्मों में ज़मीन आसमान का फरक नज़र आयेगा। कई फिल्में कई कारणों से कमज़ोर साबित होती है, लेकिन पटकथा की कमज़ोरी के कारण बेअसर हुई फिल्में अलग ही दिखाई देती हैं। इसलिए पटकथा लेखन करते वक्त सतर्क रहना ज़रूरी है।

## 2.3 पटकथा लेखन के चरण

पटकथा सिनेमा, टेलीविज़न तथा वृत्तचित्र माध्यम हेतु किया गया विस्तृत लेखन है। यह एक अलग शैली का लेखन है इसलिए इसका नाम भी अलग है, पटकथा लेखन। पटकथा लेखन की सुविधा के लिये इसे सात चरणों में बाँट सकते हैं। पटकथा हमेशा अनिश्चित वर्तमान काल में लिखा जाता है।

### 2.3.1 कथा विचार

कथा विचार फिल्म की शुरुआती बीज है। इसके बिना कथा-पटकथा की शुरुआत नहीं होती। फिल्म बनाने के लिये एक थीम की ज़रूरत है। समाज की

किसी ज्वलंत मुद्दे को थीम बनाकर फिल्म बनाये जाये तो वो दर्शक को आकर्षित करने में सफल हो जायेगा। कोई भी कथा लेखक अपनी प्रतिभा और क्षमता के आधार पर थीम को चुनते हैं। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, हास्य-व्यंग्य, होरर इसमें से किसी भी विषय को चुन सकते हैं। कथा विचार को कई लोग मूल विचार, आयडिया, वन प्वाइंट और थीम भी कहते हैं। इस संदर्भ मे पंडित मुखराम शर्माजी का मत दृष्टव्य है- "फिल्म लेखन का जो तरीका मैं समझता हूँ... वह फिल्म की थीम से शुरु होता है।"[22] फिल्म लेखन क्षेत्र में इस चरण का खास महत्व है।

हिन्दी फिल्म की कुछ थीम इस प्रकार के हैं- गरीबी-अमीरी का संघर्ष, कानून के साथ खिलवाड, स्त्री जीवन की व्यथा, बच्चों का शोषण, पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से टूटते परिवार, त्रिकोण प्रेम, जातिगत संघर्ष आदि विचारों को ही हेरफेर करके हर फिल्मों में दिखाया जाता है। फिल्म लेखन करते समय अनेक थीम का होना ज़रूरी है इससे निर्माता और निर्देशक को बेहतरीन थीम का चुनाव करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

समय बदल गया है और आजकल फिल्म का थीम में नयापन लाने में पटकथा लेखक सफल हो रहे हैं। पुरानी घिसी पिटी थीम को लेकर फिल्म बनाने में अब कोई तैयार नहीं होते हैं। बदलते माहौल के अनुसार दर्शक का मनोभाव भी बदल रहा है। उन्हें तृप्त करने के लिये थीम में नयापन लाने के लिये पटकथाकार मजबूर हो गये हैं। फिल्मी दुनिया में हलचल मचाने में इस प्रकार के थीम की ही आज ज़रूरत है।

### 2.3.2 संक्षिप्त कथा

कथा विचार के बाद कथा का संक्षिप्त सार 5-10 पृष्ठों में तैयार करता है। और निर्माता, निर्देशक कलाकारों को यह कथा सुनाते हैं। कुलदीप सिन्हा का कहना है-"फिल्म की संपूर्ण कहानी को संक्षिप्त रूप से लिखने का सबसे बडा लाभ है इसे लिखने के बाद फिल्म निर्माण से संबद्ध मुख्य कलाकार, वितरक, फाइनेन्सर तथा निर्माताओं के संक्षेप में उनकी प्रतिक्रिया तुरन्त ही प्राप्त की जा सकती है।"[23] संक्षिप्त कथा से समय का लाभ होता है। निर्माता, निर्देशक और कलाकार व्यस्त होते हैं उन्हें पूरी कहानी सुनने का समय नहीं होते इसलिए थोडे समय में पूरी कहानी का भाव व्यक्त करना पडता है। कथाकार को अलग शैली का प्रयोग करना पडता है। कथा सुनाते वक्त दृश्य का वर्णन न अधूरा हो न लंबा। सुनने पर मन में एक कल्पना ज़रूर उभरनी चाहिए। इससे निर्माता और निर्देशक खुश हो जाते हैं और कुछ सुझाव दे सकता है। विवरणात्मक पक्के आलेख के पहले कच्चे आलेख में सारी तैयारियाँ पूरी कर ली जाएँ तो समय और मेहनत की बचत होती है।

### 2.3.3 विकसित कथा

विकसित कथा में दृश्य विभाजन तथा संवाद नहीं होते। फिल्म का आरंभ, मध्य और अन्त के साथ पात्रों की पृष्ठभूमि, विशेषता आदि का विश्लेषण होते है। इसमें लेखक फिल्म के स्वरूप को तय करता है। विकसित कथा में गीत संगीत, उपकथा, क्लाइमाक्स आदि का ज़िक्र होते हैं। कथा विचार और संक्षिप्त कथा के बाद विकसित कथा तैयार करता है। विकसित कथा को पढ़ते समय निर्माता, निर्देशक यह ध्यान रखता है कि फिल्म की 'थीम' में कोई क्षति तो नहीं हुई। इसी चरण में लेखक को सुझाव व संशोधन को स्वीकार और अस्वीकार करने का मौका

मिलता है। फिल्म लेखन के संदर्भ में विकसित कथा का उपयोग पटकथा लेखन करते हुए 'संदर्भ ग्रन्थ' के रूप में होता है।

### 2.3.4 दृश्य रूपरेखा

पटकथा लेखन के प्रमुख चरण है दृश्य संरचना। कथा का दृश्य रूपरेखा तैयार करने के लिए फिल्म के तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता है। दृश्य के भीतर एक प्रकार का संतुलन होना चाहिए। दृश्य में शब्द और दृश्य का अंश कितना है यह देखना चाहिए। शब्द से ज़्यादा दृश्य बोलने लगते है इसलिए पटकथा लिखते समय पिछला दृश्य को कैसा लिखा गया और इसके बाद का दृश्य कैसा लिखा गया और इसके बाद का दृश्य कैसा होगा इसका ध्यान रखना चाहिए। इससे पुनरावृत्ति के दोष से बचा जा सकता है। दृश्य रूपरेखा के संबंध में कुलदीप सिन्हा कहते हैं- "दृश्य की रूपरेखा तैयार करना पटकथा लेखन की वह प्रारंभिक अवस्था है। जिसने कहानी के अनुसार दृश्य कल्पना, चरित्र विकास, संभाषित एक्शन तथा संवादों का संक्षिप्त विवरण होता है। इस अवस्था में कहानी के अनुसार दृश्यों की खोज की जाती है। जिसके आधार पर आगे विस्तृत पटकथा का रचरूप तैयार होता है।"[24] इस चरण में कुल कितने सीन होंगे, कौन से सीन कहाँ से कहाँ तक होंगे इसका विवरण दिया जाता है, ताकि फिल्म कितने समय की बनेगी इसका विवरण दिया जाता है, ताकि फिल्म कितने समय की बनेगी इसका अंदाज़ा लगाया जा सकता है।

### 2.3.5 व्यावहारिक रूपरेखा

व्यावहारिक रूपरेखा दृश्य रूपरेखा की अगली सीढी मानी जाती है। कई बार लेखक पुनरावृत्ति से बचने के लिए दृश्य रूपरेखा में ही व्यावहारिक रूपरेखा का

निर्माण करते है। पटकथा के इस चरण में दृश्यों को संवाद तथा अभिनय के सुझावों के साथ विकसित किया जाता है। फिल्म निर्माण में कथा लेखक, संवाद लेखक, पटकथा लेखक यह तीनों अलग-अलग हो सकते हैं। व्यावहारिक रूपरेखा के ज़रिए संवाद लेखक को कुछ सुझाव देते हैं इसके बलबूते पर संवाद लेखन आसान हो जाते हैं। इसके साथ कलाकारों को भी अभिनय करने में व्यावहारिक रूपरेखा से मदद मिलते हैं। वे आसानी से अपने पात्रों को आत्मसात करके अभिनय कर सकते हैं। व्यावहारिक रूपरेखा से संवाद का अधूरापन पूरा हो जाता है।

### 2.3.6 पूर्ण संवाद

पटकथा विकास में पूर्ण संवाद अंतिम पटकथा का प्रारूप एवं दृश्य विवरण आदि तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। पटकथा में दृश्यों का बोलने का अर्थ है, अपने आप में पूरे दृश्य का बोलना, पृष्ठभूमि, हलचल, क्रियाकलापों द्वारा बोलना, चेहरे और समग्र व्यक्तित्व के माध्यम से बोलना। इन सारी बातों को ध्यान में रखकर संवाद लिखने होते हैं। संवादों में नापातुलापन होना चाहिए। लंबे-लंबे संवाद दर्शकों को बेचैन करते हैं। इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि भाषा और वार्तालाप के अनुकूल है। पटकथा में दृश्यों के विवरण के साथ समय तथा स्थान के विवरण में संवाद हो तो पटकथा की पूर्णता जल्दी हो जाती है। क्योंकि दृश्य संवाद पर निर्भर होती है। इसलिए पटकथा में संवाद का खास स्थान है।

### 2.3.7 शूटिंग स्क्रिप्ट

यह पटकथा लेखन का अंतिम चरण है। यहाँ तक आते-आते निर्देशक को पूरे फिल्म का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। शूटिंग स्क्रिप्ट के तैयार होने से पूरे यूनिट काम

पर लग जाते हैं। फिल्म निर्माण के सभी सदस्य फिल्म के स्वरूप से परिचित होते हैं और फिल्मांकन के समय व्यय तथा समय की बचत होती है। शूटिंग स्क्रिप्ट तैयार करते समय निर्देशक कई दृश्यों को चित्रमय रूप में पेश करते हैं और शूटिंग स्क्रिप्ट तैयार होती है। यह यूनिट के हर सदस्य के लिए मार्गदर्शक होती है। जिसमें हर शॉट का चित्रमय विवरण उनके लिए ब्लू प्रिन्ट का काम करता है।

उपर्युक्त चरणों से गुज़रने के बाद पूर्ण रूप से पटकथा का निर्माण होता है। जो फिल्म का पेपर वर्क, ब्लू प्रिंट, कच्चा रूप होता है। जो फिल्म निर्माण में मार्ग दर्शक साबित होते हैं।

## 2.4 पटकथा लेखन की शैलियाँ

सिनेमा जगत बहुत विशाल है। दृश्य-श्रव्य माध्यम का लेखन अलग-अलग प्रकार से होता है। फिल्म के लिये अलग शैली, टेलिविज़न के लिये अलग शैली का इस्तेमाल करते हैं। यह इसलिए कि हर क्षेत्र का रुझान और आवश्यकताएँ अलग-अलग होती हैं। सिनेमा दो प्रकार से बाँटे हुए हैं। लोकप्रिय सिनेमा और गंभीर सिनेमा। लोकप्रिय सिनेमा को व्यवसायी सिनेमा और गंभीर सिनेमा को कला फिल्मे कहते हैं। बात सही है कि बगैर कला के कोई सिनेमा नहीं हो सकता और बगैर व्यवसाय के फिल्म जगत ज़िन्दा नहीं रह सकता।

फिल्में जीवन से जितनी जुडी होती, उतनी ही व लोकप्रिय होती है। इस कारण समाज का हर तबका इन फिल्मों को देखता है। उनसे मनोरंजन, सीख या संदेश भी प्राप्त करता है। पटकथा लेखन करते समय किस शैली को अपनाना है

यह पहले तय करना पडता है। फिल्म की सफलता- असफलता इसी पर निर्भर रहती है। पटकथा लेखन की प्रमुखता दो शैलियाँ है-

1. कल्पनावादी शैली
2. यथार्थवादी शैली

### 2.4.1 कल्पनावादी शैली

फिल्म जगत की ज्यादातर फिल्में इसी शैली में लिखी जाती है। जीवन जैसा भी हो लेकिन उसे एक खास अंदास में पेश करना इस शैली की विशेषता है। जो वास्तविक जीवन से कोई संबंध नहीं रखता है। इस शैली में लिखी हुई पटकथा के पात्रों की हलचल, क्रियाकलाप, कारनामे, सोच, कार्यशैली, वेशभूषा, साधन, सामग्री, भाषा, जीत, पराक्रम, सफलताएँ, मान्यताएँ सब अलग होता है। इस शैली में लिखी हुई पटकथा के लिए कोई लिखित-अलिखित नियम नहीं होते। राजेन्द्र पाँडे के अनुसार- "यह पूरी तरह कल्पनावाद का विषय है। कल्पना की उडानें कैसी हों, उस पर कोई नियम लागू नहीं होता। अंत, कल्पनावादी लेखन पर भी कोई नियम सिद्धान्त लागू नहीं होता, यह कहना एक तरह से मुनासिब होगा।"[25] इससे यह स्पष्ट होता है कि कल्पनावादी शैली का कोई नियम या सिद्धान्त नहीं है। अपनी मर्जी से कुछ भी लिखे वही फिल्म का सिद्धान्त बन जाता है। "अपने अपने ढंग से लिखा, उस ढंग से फिल्म भी बन गई, वह हिट हो गई तो आपकी शैली मानदंड बन गया, वह पिट गई तो आपकी शैली भुला दी गई। बस, यही एक मोटा नियम बन सकता है।"[26]

कल्पनावादी शैली में पटकथा लिखनेवाले लेखक को यह ध्यान में रखना चाहिए की कल्पना का अतिरेक सीमाओं और संतुलन को लाँघ कर जाते तो दर्शक फिल्म को नापसंद करने की कराण बनेंगे। इसलिए इसका ध्यान रखना चाहिए। इस धरती पर आधिकांश जीवन सुखद नहीं, दबा-कुचला है। दबा-कुचला अभावग्रस्त समाज अपने ढंग से जीना चाहता है। यदि पटकथाकार यह सच्चाई समझ ले तो वह अपनी लेखनी से वैसा जग पैदा करेगा, जैसा इन दबे-कुचलों को चाहिए। इस शैली में पटकथा लिखना बहुत कठिन है क्योंकि कल्पना की होड में दर्शक की जिजीविषा को संभालना भी आवश्यक है। इस विषय में राजेन्द्र पांडे कहते हैं- "इसमें प्यार भी हो हिंसा भी हो लेकिन जादुई तरीके से बुराइयाँ नष्ट हो और अच्छाइयों की जीत हो। यह 'जादू' ही महत्वपूर्ण है और पटकथाकार को इस जादू को भुनाने- बिखेरने की कला मालूम होनी चाहिए।"[27]

कल्पनावादी शैली वास्तविक जीवन से कोसों दूर है फिर भी दर्शकों के मन के अनुसार पटकथा लिये तो फिल्म सफल होंगे।

### 2.4.2 यथार्थवादी शैली

जहाँ तक यथार्थवादी शैली का सवाल है पटकथाकार को यह ध्यान में रखना चाहिए कि वास्तविक जीवन की पेशकश पटकथा द्वारा करने की कोशिश होती चाहिए। लेकिन कई बार ऐसा भी होता है कि यथार्थवादी शैली में लिखी गयी पटकथा कल्पना का आभास देते हैं। राजेन्द्र पांडे का मत है- "जहाँ तक यथार्थवादी सिनेमा का सवाल है, पटकथाकार को ध्यान में रखना होगा कि कला का काम आभास पैदा करना होता है, जिस का तस जीवन पेश करना नहीं।"[28] यथार्थवादी

शैली का मतलब सिर्फ आभास कराना नहीं बल्कि दर्शकों को मनोरंजन प्रदान करना भी है। कल्पनावादी शैली की तरह यथार्थवादी शैली में भी संतुलन की आवश्यकता है। इस संदर्भ में राजेन्द्र पांडे का कहना है- "जिस प्रकार कल्पनावादी फिल्में संतुलन की आवश्यकता महसूस करती हैं, उसी प्रकार जीवन से जुडी फिल्में भी संतुलन की आवश्यकता महसूस करती है।"[29]

कई बार कल्पनावादी पटकथाकार की तरह यथार्थवादी पटकथाकार भी अतिरेक करते हैं इसलिए ध्यान रखना चाहिए कि इसे संतुलित बनाये रखे। यथार्थवादी फिल्मों को भी पटकथाकार को रोचक शैली में प्रस्तुत करना चाहिए क्योंकि दर्शक सिर्फ यथार्थ जीवन को देखने नहीं बल्कि मनोरंजन के लिए भी आते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि पटकथा की शैली कोई भी हो उसमें संतुलन की ज़रूरत है। पटकथा का उद्देश्य यही होना चाहिए कि दर्शकों का मनोरंजन हो। दर्शक फिल्म देखने के लिये इसलिए ही तो आते है कि उसका मनोरंजन हो। फिल्म देखकर मन को आनन्द और सुकून प्राप्त हो। पटकथाकार को हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि शैली से ज़्यादा महत्व दर्शक वर्ग का होता है। उनके कारण ही फिल्मी दुनिया चलती है। बिना दर्शक के कोई फिल्म सफल नहीं होता।

## 2.5 पटकथा लेखन की पद्धतियाँ

जैसे पटकथा लेखन की शैली होती है वैसे पद्धतियाँ भी होती हैं। पटकथा लेखन का पहले से चली आ रही पद्धति विदेशों में अभी भी अपनायी जाती है। हमारे यहाँ आजकल दोनों पद्धतियाँ अपनाई जाती हैं।

1. क्रमबद्ध पद्धति
2. स्थापित पद्धति

### 2.5.1 क्रमबद्ध पद्धति

यह पद्धति फीचर फिल्म तथा टेलीविज़न धारावाहिक लेखन के लिए प्रयुक्त होती है। क्रमबद्ध पद्धति में पटकथा की शुरूआत दृश्य एक से की जाती है और वह लगातार, क्रमवार ढंग से, एक के बाद एक दृश्य के रूप में लिखी जाती है। जिस तरह किताब के हर पन्ने पर लिखते हैं उसी तरीके से लगातार दृश्यों का सृजन होता है। इस पद्धति में कई बार पटकथाकार एक दृश्य को एक पन्ने पर तो कभी एक पन्ने पर एक या दो से अधिक दृश्य भी स्वतंत्र रूप से लिख सकते हैं। पुरानी पीढी के फिल्मकार आज भी इसी पद्धति को अपनाते हैं। नई पीढी के फिल्मकार या लेखक फिल्म तथा धारावाहिक के लिये ही कमबद्ध पद्धति का इस्तेमाल करते हैं। क्योंकि इस पद्धति में कम समय लगता है। पटकथाकार को दृश्यों को विस्तृत रूप में लिखने के भी ज़रूरत नहीं है। जैसे नाटक का प्रारूप होता है वैसे ही इस पद्धति के पटकथा का होता है।

### 2.5.2 स्थापित पद्धति

यह पटकथा लेखन की आधुनिक तथा बहुचर्चित पद्धति है। इस पद्धति में पटकथा लिखते समय पन्ने की लंबाई की हिसाब से दो समान हिस्से किये जाते हैं। एक हिस्से में शीर्षक के रूप में ऊपर लिखा जाता है- Visual यानी दृश्य। दूसरे हिस्से में शीर्षक के रूप में ऊपर लिखा जाता है- Audio यानी आवाज़ या ध्वनि। Visual के हिस्से में दृश्य का वर्णन लिखा जाता है। क्रिया कलाप या साक्षात्कार

संबंधी संकेत लिखे जाते हैं। दूसरे हिस्से में साक्षात संवाद या कमेंटरी लिखी जाती है। इन दोनों भागों के पढने से कोई भी समझ सकता है कि किस जगह पर कितने बजे कौन किस से क्या बच्चा कह रहा है। विदेशों में ज्यादातर इसी पद्धति का प्रयोग होता है। इस पद्धति की पटकथा पढने पर दृश्य को जल्दी समझ सकते हैं। इस संदर्भ में राजेन्द्र पांडे का कहना है- 'Visual/Audio वाली शैली में कागज़ पर नज़र डालने ही दृश्य और संवाद का विभाजन साफ तौर पर दिखाई देता है।"[30] इस प्रकार की पटकथा फिल्म निर्माण से जुडे सभी सदस्यों को मार्गदर्शक के रूप में मददगार साबित होती है। जब कलाकार पटकथा को पढेंगे तब उन्हें दृश्य तथा संवाद की जानकारी कुछ ही क्षणों में हो जाएगी। कलाकारों को निर्देशक द्वारा समझाने की आवश्यकता नहीं है। इसी से वह समझ पाएगा कि इसे प्रभावशाली ढंग से लिखा गया है या नहीं और वह अपने पूरे प्रभाव के साथ फिल्म में उभर पाएगा या नहीं।

पटकथा लेखन किसी भी पद्धति में क्यों न हों वह दृश्य और संवाद दोनों का आकलन पढनेवाले को पूरी तरह हो जाए। पटकथा लेखन के लिये किसी भी पद्धति को अपना सकते हैं इसके लिये कोई लिखित नियम नहीं है। यह अभ्यास और आदत का सवाल है लेखक जो चाहे शैली अपनाए।

## 2.6 पटकथा में दृश्य संरचना

पटकथा का महत्वपूर्ण तत्व है दृश्य। फिल्म का हर दृश्य कहानी को आगे बढाने के लिए या चरित्र का निरूपण करने के लिए या फिल्म की थीम उजागर करने के लिए, या कोई मूड या वातावरण उभारने के लिए या कहानी को स्पष्ट करनेवाली कोई महत्वपूर्ण सूचना देने के लिए रखा जाता है। अच्छे दृश्यों द्वारा ही

अच्छी फिल्म बनती है और यादगार रहती है। अनेक अर्थपूर्ण तथा श्रृंखलाबद्ध दृश्यों के माध्यम से कथा विकसित होती है।

पटकथा में दृश्य लिखते समय पात्रों के संवाद भी लिखे जाते हैं। लेकिन अच्छा लेखक और दिग्दर्शक उनमें भी बिंबों का ज्यादा-से-ज्यादा उपभोग करने की गुंजाइश ढूँढता है। पटकथा में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि दृश्य दिन का है या रात का? दृश्य कितना बडा होना चाहिए? कितने पन्नों में फैलाना चाहिए? दृश्य के लिए घटना-स्थल और समय का चुनाव भी करना चाहिए। पटकथा लिखते समय अपने उद्देश्य के नज़रिए से लोकेशन और समय का अच्छी तरह विचार करना होता है। जैसे-रहस्य-रोमांच, अपराध, काम-क्रीडा आदि दृश्य आमतौर से रात में रखे जाते हैं। प्रेम-प्रसंग फिल्माने के लिये पहले कश्मीर या मैसूर जाते थे लेकिन फिल्मी दुनिया अब लाखों में नहीं करोडों में बिकता है। इसलिए अब स्विट्ज़रलैंड, हॉलैंड, अमेरिका और आस्ट्रेलिया जाने लगे हैं।

दृश्य दो प्रकार के होते हैं। पहला दृश्य विजुअल प्रधान होता है- इस दृश्य में कोई कुछ नहीं बोलता बिना संवाद के घटना घटित होते हुए दिखाई देती है। दूसरा दृश्य-संवाद प्रधान होता है। संवाद प्रधान होने के कारण एक, दो या अनेक पात्र बोलते हुए दिखाई देते हैं। संवाद का दृश्य तीन-चार मिनट तक का हो सकता है। दृश्य लिखते समय यह ख्याल रखना चाहिए कि दृश्य में क्या घटेगा, दृश्य का उद्देश्य क्या है? कहानी को आगे कैसे बढाएगा? आदि।

जिस तरह पटकथा का आदि, मध्य और अन्त होता है उसी तरह हर दृश्य का भी आदि, मध्य और अंत होता है। लेकिन पटकथा में हर दृश्य का आदि, मध्य और अंत दिखाने की कोशिश करेंगे तो फिल्म बेहद लंबी और उबाऊ बन जाते हैं।

इसलिए दृश्य लिखने से पहले यह तय किया जाय कि कहाँ से शुरू किया जाए? जिस तरह पटकथा की दिशा देने के लिए उसका अन्त दिमाग में स्पष्ट होता है उसी तरह सीन लिखते हुए यह स्पष्ट होना चाहिए कि सीन का उद्देश्य क्या है? इसमें क्या घटना घटती है और पात्र के चरित्र का कौन-सा पक्ष उजागर होता है? इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर तय करना है कि सीन को देर से देर करके पकड़ूँ और उद्देश्य पूर्ती होते ही छोड दूँ।

किसी दृश्य के आदि, मध्य और अन्त का फैसला वास्तविक जीवन में घटनेवाले दृश्यों के आधार पर नहीं बल्कि कथा की आवश्यकतानुसार करना चाहिए। "एक फिल्म में दृश्य कितने हो इसका कोई लिखित नियम नहीं है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि निर्माता निर्देशक फिल्म की लंबाई कितनी रखना चाहते हैं।"[31] जिस तरह फिल्मों में कितने दृश्य चाहिए इस संदर्भ में कोई भी नियम नहीं है उसी प्रकार एक दृश्य कितने लंबा होना चाहिए इस संदर्भ में भी नियम नहीं है। पटकथाकार को दृश्य में पुनरावृत्ति को टालना चाहिए क्योंकि एक ही चीज़ बार-बार देखने से दर्शक ऊब जाते हैं। एक दृश्य में कई शोट्स होते हैं। शॉट केवल एक तकनीक नहीं है बल्कि कला है।

अंततः दृश्य रचना कथा को आगे बढाने का माध्यम है। कथा-पटकथा के लिखित रूप को फिल्म के रूप में परदे पर ढालने का काम दृश्य करते हैं। इसलिए पटकथा लेखन में दृश्य की महत्ता अधिक है।

### 2.6.1 पटकथा लेखन की भाषा

फिल्म की पटकथाएँ पहले अंग्रेज़ी में लिखी जाती थी। जब से धारावाहिक की शुरुआत हुई तब से पटकथा हिन्दी में भी लिखी जाने लगी। पटकथा लेखन एक

तकनीकी लेखन है। इस कारण कई तकनीकी शब्दों, वाक्प्रचारों का इस्तेमाल पटकथा लेखन में करना पडता है। इसलिए पहले अंग्रेज़ी में ही पटकथाएँ लिखी जाती रहीं।

पटकथा लेखन के लिये व्यक्तिगत रुचि और रुझान के अनुसार भाषा का चयन कर सकते हैं। यदि पटकथा हिन्दी में लिखकर तकनीकी शब्द अंग्रेज़ी में भी लिख सकते हैं। यह पटकथाकार पर निर्भर रहता है। जैसे- जैसे फिल्म का प्रचार-प्रसार हुआ, इस क्षेत्र से जुडे कलाकार, तकनीश्यन सिनेमा माध्यम से परिचित होने लगे तो अपनी भाषा का भी प्रयोग होने लगा। मूल कृति की भाषा में ही संवाद लिखे जाते हैं। कुछ अंग्रेज़ी शब्द ऐसे है कि जिसका प्रयोग आमतौर पर सब करते हैं ऐसे शब्दों को हिन्दी में अनुवाद न करके अंग्रेज़ी में ही प्रयोग करते हैं। विज्ञापन क्षेत्र में लेखन अंग्रेज़ी में ही होती है। हिन्दी में सबसे अधिक लेखन धारावाहिक क्षेत्र में ही होते हैं।

भूमण्डलीकरण के इस दौर में सब कुछ बदल रहा है। आजकल के नौजवान अपनी मातृभाषा से ज़्यादा अंग्रेज़ी में बात करना पसंद करते हैं। ज़्यादातर लोगों को अपनी मातृभाषा लिखना-पढना भी नहीं आते और उस बात पर गर्व का अनुभव महसूस करते हैं। ऐसे माहौल में आज के युवा कलाकारों को हिन्दी में लिखी पटकथा देकर क्या फायदा इसलिए ज़्यादातर लोग पटकथा लेखन में अंग्रेज़ी और हिन्दी दोनों का प्रयोग करते हैं। उन्हें अंग्रेज़ी में पटकथा लिखकर देनी पडती है। यह बहुत बडी विडंबना है कि हिन्दी फिल्म के लिये अंग्रेज़ी में पटकथा लिखने के लिये मजबूर होना।

### 2.6.2 कथा-पटकथा

कथा-पटकथा फिल्म निर्माण में अहम भूमिका निभाते हैं। आम जनता पर दृश्य और श्रव्य माध्यम का गहरा प्रभाव है। फिल्में इन्सान की ज़िन्दगी में वह हरियाली है जिससे उसका मन, अंतर आत्मा और दिमाग तरोताजा होता है। अतः फिल्म की मानवीय जीवन में बडी अहमियता है। फिल्म बनाते समय दृष्टिकोण कितना भी व्यावसायिक हो, कलात्मक हो या वैयाक्तिक हो मगर दुनिया भर के दर्शकों के लिए फिल्में बनाते वक्त इस बात का ख्याल रखना है कि अपनी फिल्म दर्शकों के सपनों को परदे पर हू-बहू उतारे। लेखक द्वारा कथा का लिखा जाना और उसके परदे पर साकार होना किसी जादू से कम नहीं है। कहानी या तो कोरी कल्पना पर आधारित हो सकती है या असल ज़िन्दगी पर आधारित हो सकती है। कथा वनलाइनर और विकसित कथा के रूप में भी लिख सकते हैं। वनलाइनर में समय और पैसे का बचत होती है। विकसित कथा में बिना किसी शंका के काम कर सकते हैं। कथा के शुरूआत में किरदार का परिचय, मध्य में संघर्ष और अन्त में संघर्ष का समाधान होते हैं। फिल्म कथा लिखते समय कहानीकार को पूरी छूट होती है और समय की पाबंदी भी नहीं होती। लेकिन पटकथाकार को अपने दायरे में रहकर पटकथा करनी चाहिए और समय का भी नियंत्रण होते हैं। इस संदर्भ में मन्नू भंडारी की टिप्पणी महत्वपूर्ण है-"कहानीकार को तो पूरी छूट होती है कि वह अपनी कहानी किसी भी शैली में लिखे। वह चाहे तो अपनी टिप्पणियों और व्याख्याओं के साथ वर्णनात्मक शैली में घटनाओं के ब्योरे प्रस्तुत कर सकता है और चाहे तो मात्र संवादों में। उत्तम पुरुष में लिखे या अन्य पुरुष में.... डायरी फॉर्म में लिखे या पत्रों के रूप में .... तरह-तरह के प्रयोग करने की उसे पूरी छूट होती है।"[32]

असल में पटकथा दृश्यों का लेखन है। कथा के बाद दूसरा चरण पटकथा लेखन है। पटकथाकार कथा में जो नाटकीय रूपांतर, स्पष्टता, संरचना, पात्र, संवाद और समग्र शैली की सुधारने का काम करता है। पटकथा में संवाद भी जोडे जाते हैं। डायलोग, तकनीकी बारीकियाँ भी पटकथा में लिखी होती हैं। कथा मूलतः लेखक की कल्पना या कथा विचार होती है तो पटकथा उस कथा का नाट्य रूपांतरण तथा दृश्य-रूपांतरण होती है। कथा वर्णनात्मक प्रधान होती है, तो पटकथा संवाद प्रधान तथा दृश्य प्रधान होती है। कथा की तरह पटकथा में भी आरंभ, मध्य और अंत होता है।

पटकथा के अर्थ, परिभाषा, स्वरूप, शैली, पद्धति आदि के विवेचन से यह स्पष्ट होता है फिल्म की आत्मा पटकथा है। पटकथा लिखना कोई बच्चों का काम नहीं है। इसके लिये प्रतिभा, कौशल, नैसर्गिकता का होना अनिवार्य है। पटकथा के लिये कथा की ज़रूरत है उसी कथा को दृश्यों के द्वारा परदे पर उतारना पटकथाकार का काम है। पटकथा में पात्रों, संवादों में नियंत्रण होना चाहिए। पटकथा नाटकीय और घटना प्रधान है। एक अच्छे पटकथाकार की पटकथा हर उम्र के दर्शक का मनोरंजन करते हैं। पटकथा ही फिल्म की सफल-असफलता को तय करती है।

## 2.7 साहित्य और सिनेमा : अंतर्संबंध

सिनेमा का इतिहास बहुत पुराना नहीं होते हुए भी इतने कम समय में समाज को जिस तरह प्रभावित किया है वह अकल्पनीय है। सिनेमा ने केवल समाज को बल्कि समाज के प्रत्येक बिन्दुओं को अपने तरफ आकार्षित किया है। चाहे वह हमारी संस्कृति हो, परंपरा हो, आर्थिक व्यवस्था हो सबको नयी आयाम दी है। सिनेमा ने मजह 100 वर्षों में जिस बुलंदियों को छुआ है साहित्य उसके पीछे दौड लगाती, थकती

सी प्रतीत होती है। ऐसा नहीं है कि सिनेमा साहित्य से अलग है, यह भी साहित्य का अभिन्न अंग है। "सिनेमा की पहूँच जहाँ समाज के अंतिम व्यक्ति तक होती हैं, वही साहित्य पढे-लिखों में भी बेमुश्किल दो-चार प्रतिशत लोगों तक ही पहूँच पाता है। सिनेमा ही क्या किसी भी प्रदर्शनकारी कला के लिए लोकधर्मी होना अनिवार्य है। इस लोक संलग्नता के अभाव में उसका अस्तित्व ही असुरक्षित है।"[33]

हालांकि सिनेमा और साहित्य दो पृथक विधाएँ हैं लेकिन दोनों का पारस्परिक संबंध बहुत गहरा है। विश्व में हिन्दी सिनेमा ही भारतीय सिनेमा का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह हिन्दी भारत ही नहीं भारत के मुख्य सिनेमा की भी भाषा है। इसी के साथ एक सत्य यह भी है कि हिन्दी में साहित्यिक कृतियों पर सबसे कम सफल फिल्में बन पाई हैं।

सिनेमा ने अपने प्रारंभिक दौर में साहित्य के विभिन्न विधाओं को आधार बनाकर अपनी यात्रा शुरु की। पहले पहले सिनेमा ने पौराणिक कथाओं पर आधारित फिल्में बनाई। भारत में बननेवाली पहली फीचर फिल्म दादा साहब फाल्के द्वारा निर्मित 'राजा हरिश्चंद्र' प्रदर्शित की गई। जो भारतेन्दु के नाटक 'हरिश्चन्द्र' पर आधारित थी। सन् 1931 में आर्देशिर इरानी द्वारा निर्मित 'आलम आरा' से भारत में सवाक् फिल्मों का आरंभ हुआ। साहित्यिक कृतियों पर ढेरों फिल्में बनी लेकिन कुछ अपवादों को छोड अधिकांश फिल्म की स्थिति ऐसी हुई कि मुंबई फिल्मकार हिन्दी साहित्यिक कृतियों पर फिल्म बनाने से डरने लगे।

अब रही बात साहित्य और सिनेमा की, तो कई साहित्यकार अपने कलम को आजमाने मुंबई गए लेकिन किस्मत ने साथ नहीं दिया। साहित्य जगत के प्रसिद्ध

कथाकार मुंशी प्रेमचन्द भी इस रंगीन दुनिया से बच नहीं सके। प्रेमचन्द की कहानी 'मिल-मजदूर' पर मोहन भवनानी के निर्देशन में 'गरीब मज़दूर' नाम से फिल्म बनी। 1934 में प्रेमचन्द की ही कृतियों पर 'नव जीवन', और 'सेवा सदन' बनी लेकिन दोनों फिल्में फ्लॉप हो गयी। 1941 में ए.आर कारदार ने प्रेमचन्द की कहानी 'त्रिया चरित्र' को आधार बनाकर 'स्वामी' फिल्म बनाई लेकिन वो भी चली नहीं। यही हाल 1946 में बनी प्रेमचन्द के 'रंगभूमि' उपन्यास पर उसी नाम से बनी फिल्म का भी हुआ। 1963 में प्रेमचन्द के बेहद लोकप्रिय उपन्यास 'गोदान' पर फिल्म बनी। इसमें राजकुमार और महमूद मुख्य भूमिका में थे। उनकी कहानी 'शतरंज के खिलाडी' पर 'द चेस प्लेयर्स' नाम से सत्यजीत रे ने फिल्म बनाई थी। फिल्म में मुख्य भूमिका में संजीव कुमार और शबाना आज़मी है। 'गबन' पर 1966 में ऋषिकेश मुखर्जी ने उसी नाम से फिल्म बनायी थी। इसमें सुनील दत्त और साधना लीड रॉल में है। दर्शक को फिल्म और गाने काफी पसंद आयी। प्रेमचन्द की कहानी 'सद्गती' पर उसी नाम से सत्यजीत रे ने 1981 में फिल्म बनायी थी। इसमें ओम पुरी और स्मीता पाटील ने मुख्य भूमिका निभाई है। यह फिल्म भारतीय जाति व्यवस्था पर गहरा प्रहार करती है। फिल्म में छुआछूत की बुराई का चित्रण उम्दा तरीके से किया है।

लेकिन साहित्य और सिनेमा का यह रिश्ता न तो बहुत मधुर रहा और न ही बहुत लंबा। प्रेमचंद, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर, पॉडेय बेचेन शर्मा 'उग्र' आदि रचनाकारों को वहाँ से निराश होकर लौटना पडा। फिर भी साहित्य रचना के आधार पर फिल्म बनती रही। 1941 में भगवतीचरण वर्मा के

उपन्यास 'चित्रलेखा' पर उसी नाम से फिल्म बनी जो केदार शर्मा के निर्देशन में हुई थी और फिल्म सफल भी रहे। 1960 चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' मोनी भट्टाचार्य ने फिल्म बनाई थी। इसमें सुनील दत्त और नन्दा मुख्य भूमिका में है। हालांकि फिल्म को उतनी सराहना नहीं मिली जितनी की गुलेरी की इस कहानी को। कमलेश्वर के उपन्यास 'पति पत्नी और वो' बी.आर चोपडा ने फिल्म बनाई थी जो कमलेश्वर ने ही लिखा था। भीष्म साहनी के बटवारे पर लिखे गये कालजयी उपन्यास 'तमस' पर इसी नाम से गोविन्द निहलानी ने फिल्म बनाई। इस पर टी.वी सीरियल भी बनाया गया। ये फिल्म उपन्यास की तरह दर्शकों को अंदर तक झकझोरने में सफल रही। फणीश्वर नाथ की कहानी 'मारे गए गुल्फाम' 'तीसरी कसम' नाम से बासू भट्टाचार्य ने फिल्म बनायी थी। राजकपूर और वहीदा रहमान मुख्य भूमिका में थी लेकिन फिल्म फलाप रहीष धर्मवीर भारती के उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोडा' इसी नाम से 1992 में श्याम बेनेगल ने फिल्म बनाई। जो उपन्यास की तरह ही लोकप्रिय रही। फिल्मों के लिए कई कहानियाँ लिख चुके और फिल्में बना चुके कहानीकार राजेन्द्र सिंह बेदी की कृति 'एक चादर मैली सी' पर भी जब फिल्म बनी तो वह भी फ्लॉप साबित हुई। मन्नू भण्डारी की कहानी 'यही सच है' पर 1974 में 'रजनीगंधा' नाम से बासु चटर्जी ने फिल्म बनाई। अमोल पालकर और विद्या सिन्हा ने प्रमुख भूमिका निभाई है। ये फिल्म अपनी अभिव्यक्ति की यथार्थता और साफ सुथरेपन से काफी सराही गयी।

आठवें दशक के उत्तरार्द् में कुछ युवा निर्देशकों में युवा कथाकारों की कथावस्तु पर फिल्म बनाने की साहसिक और प्रायोगिक उपक्रम प्रारंभ किया गया।

उदय प्रकाश की कहानी 'हीरालाल का भूत' पर मोहन हरि ने 'उपरांत' फिल्म बनाई। योगेश गुप्त के उपन्यास 'उनका फैसला' पर दिनेश लखनपाल ने 'अंतहीन' नाम से फिल्म बनायी। हिमांशु जोशी के 'सु राज' उपन्यास पर तनवीर अहमद ने फिल्म बनाई। कुसुम संसल के उपन्यास 'उसकी पंचवटी' पर बासु भट्टाचार्य ने 'पंचवटी फिल्म बनाई। इनमें से कुछ रचनाकार अपनी रचना के फिल्मीकरण से संतुष्ट है, वही कुछ बेहद नाराज़ है। उदय प्रकाश अपनी नाराजगी व्यक्त करते हुए कहते है कि- "ऐसे लोगों को साहित्यिक कृतियों को नष्ट करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए। मैंने गलती की और मैं अपनी भूल स्वीकार करता हूँ।"[34]

वस्तुतः फिल्मों का अर्थशास्त्र निर्माता निर्देशक और लेखकों को एक स्तर नीचे उतरकर समझौता करने को बाध्य करता है। साहित्यकार को यहाँ पहूँचकर एक पेशेवर लेखक का रूप धारण करना पडता है, जो निर्माता, निर्देशक और आम जनता की माँग पर लेखन की पूर्ती करता है। साहित्य और सिनेमा का यह तनाव जितना हिन्दी भाषा में है, उतना अन्य भाषाओं में नहीं है। साहित्य और फिल्म दोनों रचनात्मक प्रतिभा की माँग करती है। मूल अंतर केवल इतना है कि साहित्य एक मौलिक सृजन है, तथा फिल्म इस मौलिक सृजन का पुनसृजन है। अच्छे सिनेमा के निर्माण के लिए साहित्य के आधार का होना बहुत आवश्यक है।

साहित्यिक कृतियों पर बनी फिल्म अपने आप अच्छी हो, ऐसा नहीं होता। वास्तविकता यह है कि साहित्यिक कृति का सौन्दर्यशास्त्र और सिनेमा का सौन्दर्यशास्त्र अलग-अलग है और सिनेमा सर्जक भी साहित्य कृति के पाठक के रूप में साहित्यिक आस्वाद तत्वों पर मुग्ध होकर उनका सिनेमाटिक रूपान्तरण किए बगैर

आगे बढ जाते हैं। एक अन्य तथ्य यह भी उल्लेखनीय है कि कई बार गलत पात्र चयन से भी साहित्यिक फिल्मों की आत्मा मर जाया करती है। इसके अलावा कृति के मुताबिक परिवेश का अंकन भी फिल्मकारों के लिए बडी चुनौती होती है। अधिकांश साहित्यकार फिल्म निर्माण के विभिन्न पहलुओं से प्रायः अनभिज्ञ होते हैं और वे कैमरे की ज़रूरत के मुताबिक कथ्य दे पाने में असफल हो जाते हैं।

साहित्य और सिनेमा का मूलभूत प्रयोजन लोगों का मनोरंजन करना है। साहित्य और सिनेमा ऐसे माध्यम है जिसमें समाज को बदलने की ताकत सबसे अधिक होती है। कहना गलत न होगा कि सिनेमा साहित्य से अधिक प्रभावशाली और आम जनता तक सरलता से पहूँचने वाला माध्यम है। हालांकि साहित्य के चिंतक, लेखक और आलोचक सिनेमा को साहित्य का हिस्सा मानने से हमेशा हिचकते रहे हैं, यह जानते हुए भी कि सिनेमा का आरंभ ही साहित्य से होता है। साहित्य और सिनेमा असल में एक दूसरे के पूरक है। हिन्दी फिल्मों का वर्तमान परिदृश्य काफी बदल चुका है। सिनेमा में हिन्दी साहित्य पर आधारित अधिकांश फिल्में असफल साबित हुई। यही कारण है कि हिन्दी में साहित्यिक कृतियों पर सबसे कम सफल फिल्में बन पाई हैं। इसकी बडी वजह कहानी की कथ्य को समझने में नाकाम होना है। दूसरा कारण सिनेमा को उपन्यास की भांति पेश करना था। हिन्दी सिनेमा को शिखर पार पर ले जाने वाले साहित्य को पुष्पित व पल्लवित करना ज़रूरी है। इस पर उमेश राठौर लिखते हैं- "फिल्म और साहित्य के परस्पर लगाव का प्रश्न सदैव से ही जीवन्त रहा है। इस संबंध को विकसित करने में गीत, कविता, नाटक और उपन्यास की चर्चा भी अक्सर होती रही है, लेकिन फिल्में केवल उपन्यासों पर ही नहीं बनी कथाओं पर भी निर्मित की गई।"[35]

उमेश राठौर के अनुसार चलचित्र और साहित्य में गहरा अतर्संबंध है। चलचित्र विधा के अध्ययन के बिना साहित्य के पूर्ण अध्ययन की बात उपहास-सी लगती है। वास्तव में देखा जाए तो नाटक एवं रंगमंच का विकसित और परिवर्धित रूप ही चलचित्र है तथा चलचित्र का कथानक उपन्यास से अत्यधिक प्रभावित रहा है। "साहित्य और सिनेमा दोनों स्वतंत्र कला रूप है जिनकी, अपनी निजी विशिष्टताएँ है जिनको अनदेखी करके कभी सफल फिल्मांतरण नहीं किया जा सकता है।"[36]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि साहित्य क्षेत्र में चलचित्र-विधा का अत्यंत महत्व है। साहित्य का विकसित रूप ही आज चलचित्र के नाम से जाना जाता है। साहित्य की प्रत्येक विधा को आत्मसात करने में सक्षम और समाज पर सीधे और शीघ्र प्रभाव उत्पन्न करने के गुणों के परिणामस्वरूप ही चलचित्र की साहित्य अध्ययन में उपादेयता स्वतः स्पष्ट होती है। चलचित्र द्वारा दिये गए संदेश लिखित साहित्य की अपेक्षा अधिक प्रभावी रहे हैं इस तथ्य को नकारा नहीं सकते। आधुनिक समाज के निर्माण में फिल्मों की भूमिका, इनका योगदान भी अच्छा खासा रहा है। इसकी सबसे बडी वजह है दृश्य माध्यम होना। आज फिल्में जन सामान्य के लिये मनोरंजन तथा शिक्षण का सशक्त माध्यम है।

## 2.8 साहित्य और पटकथा

फिल्म निर्माण का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा पटकथा है। पटकथा एक तकनीकी लेखन है जो किसी फिल्म या धारावाहिक का लिखित रूप होता है। साहित्य और पटकथा का निकट संबंध है। पटकथा लिखने के लिये कथा की ज़रूरत होती है। कथा के बिना पटकथा शुरू नहीं कर सकता है। कथा एक साहित्यिक

विधा है। कहानी को दृश्यों द्वारा दर्शकों के सामने प्रस्तुत करना ही पटकथाकार का धर्म है। "पटकथा साहित्यिक होने के बजाय चाक्षुष और श्रव्य होती है। पटकथा लेखक पाठकों द्वारा पढे जाने के लिए शब्द नहीं लिखता है बल्कि वह उन बिंबों को खींचता है जो देखे जायेंगे, उन ध्वनियों को लिखता है जो सुनी जायेंगी। और साथ में ऐसी नाटकीय स्थितियों का वर्णन करता है। जिनसे पाठक तादात्म्य स्थापित कर सकें।"[37] उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट होता है कि पटकथा को साहित्य के दायरों में रखने के लिए कुछ लोग तैयार नहीं होते हैं।

पटकथा के तीन अंग कथा, पटकथा, संवाद एक दूसरे से मिले हुए है। पटकथा किसी साहित्य कृति या स्व लिखित कहानियों पर आधारित है। साहित्यिक कृतियाँ पहले से लिखी जाती है। अगर वो पाठक को प्रभावित करती हैं तो स्वाभाविक है कि उस पर फिल्म भी बने। साहित्यिक कृतियों पर फिल्म या धारावाहिक बनाते समय पटकथाकार को कई आडचनें झेलना पडता है। मूल कृति को फिल्म के दायरे में लाने के लिये कम साहित्यिकता का प्रयोग करते हैं। इस अवसर पर साहित्यकार और पटकथाकार में आपसी सामंजस्य बहुत ज़रूरी है। दोनों को कुछ खोने तो कुछ पाने के लिये तैयार रहना चाहिए। क्योंकि पटकथा लिखते समय या फिल्म बनाते समय साहित्यिक कृति का कुछ अंश जोडना भी पडता है। पटकथाकार को फिल्म के दायरे के अंतर रहकर काम करना पडता है। उन्हें समय की पाबंदी है और कहानीकार को जिस तरह की छूट मिलती है पटकथाकार को नहीं मिलती।

आज भी पटकथा को साहित्य के रूप में देखने के लिये कुछ लोग तैयार नहीं है। उनके अनुसार पटकथा सिर्फ फिल्म निर्माण से संबंधित प्रक्रिया है। वे साहित्य

और पटकथा को अलग-अलग मानते हैं। यह सच है कि पटकथा अलग तरीके से लिखी जाती है क्योंकि पटकथा साहित्यिक लेखन से ज्यादा तकनीक पर ज़्यादा महत्व देते हैं। उन्हें फिल्म निर्माण की हर पहलुओं से परिचय पाना है। फिल्मी दुनिया से अंजान व्यक्ति पटकथाकार नहीं बन सकते। आजकल लोग जिस तरह नाटक को पढने, देखने और जानने में दिलचस्पी रखते हैं उसी प्रकार पटकथा को भी समझना चाहते हैं। पटकथा को पढने के लिये भी लोग आगे आ रहे हैं। मलयालम में फिल्म के साथ उसकी पटकथा भी पुस्तक रूप में प्रकाशित होते हैं। लोग सिर्फ सिनेमा को ही नहीं पटकथा की भी चाहने लगे हैं।

कई साहित्यकार पटकथा को फिल्म का प्रारूप ही मानते हैं। उनके अनुसार साहित्य के कोई गुण पटकथा में नहीं है। जिस प्रकार साहित्य को पढकर पाठक भाव विभोर हो जाते हैं उसी प्रकार पटकथा को पढकर आस्वादन नहीं होता। फिल्म तैयार करने की सीढी मात्र है पटकथा। उनके अनुसार साहित्यकार प्रतिभा और नैसर्गिकता से बनते हैं लेकिन पटकथाकार अभ्यास, मेहनत, कौशल और सृजनात्मक कार्य से बन सकते हैं। पटकथाकार कोई भी बन सकते हैं लेकिन साहित्यकार प्रतिभाशाली ही बन सकते हैं। साहित्यकार यह भूल जाते है कि अच्छे साहित्यकार होने से अच्छे पटकथाकार बने यह ज़रूरी नहीं है। लेकिन साहित्य रचना किये बिना भी पटकथाकार बन सकते हैं।

### 2.8.1 साहित्य पर आधारित पटकथा

साहित्य पर आधारित फिल्म की पटकथा लिखना बहुत कठिन कार्य है। साहित्यकार स्वतंत्र रूप से रचना करते हैं। उनके लिये कोई नियम या समय का नियंत्रण नहीं होता है। साहित्यकार अपने प्रतिभा के ज़रिए प्रेम, प्रकृति, संघर्ष आदि

का वर्णन शब्द दर शब्द पेज-दर-पेज लिखते रहते हैं लेकिन पटकथाकार उसे पढकर प्रभावित होते हैं लेकिन सारे प्रसंग को उसी प्रकार फिल्म में उतारने में सफल नहीं होते। साहित्य कृति के पाठक यह मानकर चलता है कि किसी भी सूक्ष्म या स्थूल, मूर्त या अमूर्त तत्व का कितनी गहराई से उल्लेख करे, इसकी स्वतंत्रता साहित्यकार को होती है लेकिन फिल्म में इस तरह का वर्णन दर्शकों को पचता नहीं है।

साहित्य कृति पर पटकथा लेखन के वक्त कई समस्याओं का सामना करना पडता है। हर कोई इस समस्या का हल ढूढने में कामयाब नहीं होते। "किसी निर्देशक ने साहित्य पर आधारित कितनी भी फिल्मों का निर्माण क्यों न किया हो किन्तु प्रत्येक नई साहित्यिक कृति फिल्मांतरण संबंधी नई समस्याएँ लेकर उसके सामने प्रस्तुत होती है और वह किस प्रकार उनका समाधान करता है यह पूर्णतया उसकी योग्यता और परिश्रम पर निर्भर करता है। परन्तु इसके बावजूद भी वह सब समस्याओं का समाधान कर ही पायेगा यह आवश्यक नहीं है। यह अवश्य है कि एक अच्छा निर्देशक इस बात का भरसक प्रयास करता है कि वह मूल कृति की आत्मा को अक्षुण रखते हुए ही आवश्यक परिवर्तन करे और यदि संभव हो सके तो मूल रचना से भी सुन्दर कृति का निर्माण कर सके। अथवा न्यूनतम भी उसकी रचना मूल कृति से कमतर सिद्ध न हो। फिर भी इस महान उद्देश्य को कम ही निर्देशक पूरा कर पाते हैं।"[38]

कहानी पर पटकथा लेखन करना कठिन कार्य है। कहानियाँ उपन्यास के तरह विस्तृत परिवेश में लिखा नहीं होता है। कहानी 10-15 पृष्ठ के अन्तर्गत लिखी होती है इससे 2½ घंटे के फिल्म बनाना आसान कार्य नहीं है। इसके लिये पात्र, घटना, संवाद आदि को विकसित करना पडते हैं। लेकिन यह ध्यान में रखना

चाहिए कि इससे कहानी का मूल सार नष्ट न हो जाए। कहानी दो प्रकार कह सकते है- पहला सीधे-सीधे कहना यानि शुरुआत से प्रारंभ होकर अंत तक पहूँचना। दूसरा फ्लैशबैक के ज़रिए कहानी कहना। विमल रॉय की 'मधुमति' फिल्म लगभग पूरी कहानी फ्लैशबैक में चलती है जो पुनर्जन्म पर आधारित थी। फ्लैशबैक दर्शक की एकाग्रता तथा कथा के प्रवाह को तोडते हैं, इसलिए अनिवार्य समझने पर ही फ्लैशबैक का इस्तेमाल होना चाहिए। सबसे सही तरीका कहानी की सीधे-सीधे कहना है इससे दर्शक की दिलचस्पी को बनाये रखते हैं और आस्वादन में कोई रुकावट भी पैदा नहीं होता। पटकथा में हर बात को कहकर व्यक्त करने की ज़रूरत नहीं है यह काम दृश्य से भी हो सकता है।

पटकथा में दृश्य को लिखते समय यह ख्याल रखना चाहिए कि शुरूआत आकर्षक हो, इसे देखकर दर्शक प्रभावित हो और यह प्रभाव लंबी समय तक बरकरार रखें। इससे दर्शक में जोश और जिज्ञासा पैदा कर सकते हैं। इस बात का कोई महत्व नहीं है कि वो काल्पनिक है या यथार्थवादी। जिस प्रभाव से प्रारंभ हुआ है उसके उत्तरोत्तर बढाकर अंत तक पहूँचना है। ऐसी पटकथा ही सफल होते है। दूसरी बात जो दृश्य लिखते समय पात्र का चरित्र और मानसिकता पर ध्यान देना आवश्यक है। तीसरी बात यह है कि शुरूआत जिस बिन्दु से करे उसी बिन्दु को महत्ता देना चाहिए। पटकथा लिखते वक्त यह ध्यान रखना है कि कहानी भले ही दुखभरी, संघर्षमयी हो लेकिन शुरूआती दृश्य निराशाजनक नहीं होना चाहिए। पटकथा लिखते समय स्थान और समय भी लिख कर रखे जिससे शूटिंग के वक्त फायदा होता है। पटकथाकार को इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिए कि एक ही लोकोशन पर होनेवाले सीन को व्यक्त रूप में लिखना चाहिए। ऐसा करने से दृश्यों

को कहानी में बनाए गए क्रम से शूट करने की ज़रूरत नहीं होती। शुरूआती सीन और अंत का सीन एक ही लोकेशन पर घटित है तो दोनों सीन को एक ही दिन में शूट कर सकते हैं।

जब बात उपन्यास पर पटकथा लिखने की आती है तो कहानी से ज़्यादा आसान कार्य है। उपन्यास बडे कलेवर में लिखा हुआ है। फिल्म बनाते वक्त पूरे उपन्यास को दर्शाया जाना असंभव है। इसलिए पटकथाकार को उपन्यास का विवेचन करके उसमें से अनावश्यक बातों को काटना पडता है। फिल्म सिर्फ ढाई घंटे की है और उपन्यास को इस में फिट रहने की नज़रिए से मूल थीम को सुरक्षित रखकर पटकथा लेखन करना पडता है। उपन्यास में मौजूद उपकथाएँ, घटनाएँ पात्र अनेक होते हैं जिसका विस्तृत वर्णन भी होगा। पटकथाकार को इसमें से प्रमुख घटना, पात्र, उपकथाओं को चुनना होता है। नहीं तो फिल्म में बिखराव पैदा होता है। जिससे दर्शक ऊब जाने की संभावना है। फिल्म बनाते वक्त यह देखना चाहिए कि देशकाल एवं परिस्थितियाँ कहानी के अनुरूप है या नहीं। पुराने ज़माने की बात करते हैं तो दृश्य में उसी वातावरण को दिखाना चाहिए। स्थान, पात्र की वेशभूषा, भाषा पुराने ज़माने की लगना चाहिए। 'शतरंज के खिलाडी', 'तीसरी कसम', 'सारा आकाश', 'हीरा-मोती' आदि फिल्मों में देशकाल एवं परिस्थितियों का जीवंत फिल्मांकन किया गया है।

साहित्यकृतियों पर पटकथा लिखना बेहद पेचीदा काम है। साहित्यकार की जिस तरह का खुलापन मिलता है उस तरह पटकथाकार को प्राप्त नहीं होता है। मूल कृति में व्यक्त किये गये सारी घटनाओं का फिल्मांकन नहीं कर सकता। यह बात सच है कि साहित्यकृतियों पर बनी ज़्यादातर फिल्में असफल रहे हैं। इसका मुख्य कारण

साहित्यकार के भावों या विचारों को उसी प्रकार फिल्म में उतारने के लिये पटकथाकार असफल होते हैं। हर पटकथाकार साहित्यकार नहीं होते उसी प्रकार हर साहित्यकार पटकथाकार भी नहीं होते। साहित्य और पटकथा लिखने की अलग तरीका है। साहित्यकार किसी भी विषय को लेकर स्वतंत्र रूप से रचना कर सकते हैं। लेकिन पटकथाकार को फिल्म निर्माण के सारे पहलुओं को ध्यान में रखकर रचना करना पडता है। साहित्य कृति को लेकर पटकथा लेखन करते वक्त कई समस्याओं से गुज़रना पडता है। जो पटकथाकार इन समस्या और झंझट का हल ढूँढकर फिल्म बनाते हैं वह फिल्म सफल हो जाते हैं। इसके लिये साहित्य और फिल्म के जानकर होना आवश्यक है। साहित्य और फिल्म से नज़दीक संबंध रखनेवाला ही सफल पटकथाकार के रूप में उभर आते हैं।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि साहित्य और पटकथा का गहरा संबंध है। हिन्दी साहित्य को विश्वभर में प्रसिद्धि होने के लिये फिल्म का योगदान बहुत बडा है। साहित्य के बिना पटकथा नहीं है। क्योंकि पटकथा का प्रमुख अंग कथा है। बिना कथा के पटकथा का विकास नहीं होता। कई साहित्यकार का कहना है कि पटकथा केवल तकनीकी लेखन है। इसके लिये साहित्य की आवश्यकता नहीं है। पटकथा पढकर ही कलाकार अपनी रोल को समझते है उसके हिसाब से ही अभिनय करते हैं। पटकथा के ज़रिए ही अभिनेता अपने पात्र को आत्मसात करके दर्शक के सामने अभिव्यक्त कर पाते हैं। पटकथा सिर्फ तकनीकी भाषा में लिखी गयी लेखन है तो अभिनेता अपने पात्र के मानसिक व्यापार, तनाव को कैसे समझ पाते हैं। पटकथाकार संवादों से पात्रों का सृजन करते हैं। उस पात्र के सुख, दुख, संघर्ष, तनाव सब कुछ पटकथाकार द्वारा सशक्त रूप में व्यक्त किये जाते हैं। इसलिए दावे के

साथ कह सकते हैं कि पटकथा सिनेमा की आत्मा है। कई साहित्यकार आज भी यह मानने के लिये तैयार नहीं है कि साहित्य और पटकथा अलग-अलग विधा है। पुस्तक रचना और फिल्म निर्माण अलग-अलग है। साहित्य का प्रमुख तत्व शब्द है और फिल्म का दृश्य। फिल्म निर्माण के प्रारूप के रूप में ही ऐसे साहित्यकार पटकथा को देखते है। उनके अनुसार पटकथा साहित्य नहीं है। असल में पटकथा शब्द और दृश्य से बनते है। साहित्य की तरह पटकथा भी लिख्र कर ही तैयार किये जाते हैं। साहित्य का पाठक से सीधा संबंध होते है और पटकथा का दृश्यों के ज़रिए दर्शक के सामने प्रस्तुत करते हैं।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि साहित्य की तरह पटकथा भी पाठक का मनोरंजन करती है। इसलिए ही आजकल साहित्य रचना की तरह पटकथा की माँग भी बढ रही है। कई फिल्मों की पटकथा पुस्तक रूप में प्रकाशित हो रही हैं। लोग पटकथा को पढने के लिये रुचि और उत्सुकता दिख्रा रहे हैं। साहित्य और पटकथा का लेख्रन शैली अलग हो सकते हैं लेकिन दोनों का काम मनोरंजन प्रदान करना ही है। इसलिए निसंदेह पटकथा को साहित्य कह सकते हैं।

**निष्कर्ष**

सिनेमा वर्तमान युग में इंसान को प्रभावित करनेवाला अत्यंत सहज और सरल साधन है। पटकथा किसी फिल्म या दूरदर्शन कार्यक्रम के लिए पटकथा लेख्रक द्वारा लिख्रा गया कच्चा चिट्ठा होता है। असल में पटकथा फिल्म का प्रारूप होता है। फिल्म निर्माण के प्रमुख्र चरण पटकथा लेख्रन है। पटकथा ही सिनेमा को सफल और असफल बनाने में प्रमुख्र योगदान देते हैं। पटकथा के बिना फिल्म अधूरा है। पटकथा को फिल्म लेख्रन का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है।

पटकथा दो तरीकों से लिखा जाता है-वनलाइनर और संपूर्ण पटकथा फिल्म निर्माण सुचारू ढंग से आगे बढाने के लिये सहायक सिद्ध होते हैं। यह पूरे यूनिट को बिना किसी शंका से शूटिंग करने के लिये मार्गदर्शन देते हैं। पटकथा का प्रमुख तीन अंग है कथा-पटकथा और संवाद। कथा और संवाद के बिना पटकथा लेखन नहीं हो पायेगा। पटकथा कथा विचार, संक्षिप्त कथा विकसित कथा, दृश्य रूपरेखा, व्यावहारिक रूपरेखा, पूर्ण संवाद, शूटिंग स्क्रिप्ट आदि चरणों से गुज़र कर आगे बढते हैं। पटकथा की दो पद्धियाँ है- क्रमबद्ध पद्धति और स्थापित पद्धति। पटकथा दो शैलियों में लिखी जाती है- कल्पना शैली और यथार्थवादी शैली। पटकथा लेखन प्रतिभा, नैसर्गिक, कौशल आदि के अलावा अभ्यास से भी कर सकते हैं। अच्छे पटकथाकार बनने के लिये अच्छे साहित्यकार होने की ज़रूरत नहीं है। फिल्म निर्माण के हर पहलुओं से वाकिफ व्यक्ति ही सफल पटकथाकार बन सकते हैं।

साहित्यिक कृति पर पटकथा लेखन कार्य बहुत कठिन काम है। पटकथा लेखन में उपन्यास से ज़्यादा कहानी पर पटकथा लिखना ही मुश्किल कार्य है। कथा छोटे कलेवर में होने के कारण पटकथाकार को कई बातों को जोडता पडता है- जैसे- पात्र, घटना, उपकथा आदि। उपन्यास पर पटकथा लेखन करते समय कुछ जोडना नहीं है बल्कि छोडना है। इससे ही फिल्म पूरा हो सकता है। साहित्यकार और पटकथाकार मं ज़मीन-असामान का फ़रक नज़र आते हैं। साहित्यकार को रचना करते वक्त पूरी आज़ादी मिलते हैं। उन्हें समय की कोई पाबंदी या किसी नियम का ध्यान रखने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन पटकथाकार की बात बिल्कुल अलग है। पटकथाकार को समय की पाबंदी है और फिल्म निर्माण के दायरे में खडा होकर पटकथा लेखन करने के लिये मज़बूर होते हैं।

साहित्यकार पटकथा लेखन को केवल फिल्म का प्रारूप मानते हैं। उनके अनुसार पटकथा साहित्य लेखन नहीं है बल्कि तकनीकी लेखन है। साहित्यकार स्वान्त सुखाय और प्रतिभा, नैसर्गिकता के बलबूते पर रचना करते हैं। उनके अनुसार पटकथा लेखन के लिये, प्रतिभा का होना ज़रूरी नहीं है अभ्यास मात्र से पटकथाकार बन सकते हैं। बात सही है कि पटकथा अभ्यास से भी सीखी जा सकती है। मगार सिर्फ अभ्यास से कोई सफल पटकथाकार नहीं बनता इसके लिए प्रतिभा और फिल्म निर्माण के सारे पहलुओं का ज्ञान भी होना चाहिए।

पटकथा लेखन कोई बच्चों का खेल नहीं है। इसके लिये मेहनत और कौशल की भी ज़रूरत है। पटकथा लेखन करते वक्त कई समस्याओं का सामना करना पडता है। पात्र, देशकाल, वातावरण, समय, स्थान, भाषा इन सभी बातों को मद्देनज़र रखते हुए ही पटकथा लेखन कर सकते हैं। पटकथाकार को दर्शक की नज़रिए से कहानी को देखना पडता है। अपनी पटकथा द्वारा दर्शक को फिल्म के अंत तक बिठाये रखने का दायित्व पटकथाकार का है। फिल्म की शुरूआत ज़बरदस्त होनी चाहिए। मध्य में संघर्ष और अन्त में समाधान भी होना ज़रूरी है। दर्शक मनोरंजन के लिये फिल्म देखने आते हैं इसलिए उनकी दिलचस्पी फिल्म के अन्त तक बरकरार रखने की ताकत पटकथा में होनी चाहिए। पटकथा लेखन के वक्त आनेवाली समस्या का सही हल ढूँढनेवाला ही अच्छे पटकथाकार बनते हैं। पटकथाकार को इस बात का ख्याल रखना चाहिए की पैसे के लिये मात्र पटकथा लेखन करेंगे तो अपनी प्रतिभा को हमेशा के लिये नष्ट करेंगे। इसलिए अपनी प्रतिभा, कौशल, मेहनत को पटकथा लेखन में उतारकर दर्शक को मनोरंजन की चरमोत्कर्ष पर पहूँचाने का ज़िम्मा उठाए। फिल्मों की तकनीकी जानकारी रखनेवाला ही सफल पटकथाकार बन सकते हैं वही सिनेमा को ऊँचाई पर पहूँचाने में कामयाब होगा।

साहित्य और पटकथा का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन है। दोनों की लेखन शैली अलग-अलग है। साहित्य शब्दों से अपनी बात रखता है तो पटकथा शब्दों को दृश्यों के माध्यम से अपनी बात कहती है। पटकथा को तकनीकी लेखन कहने से पहले यह सोचना चाहिए कि साहित्य को बुलंदियों पर पहूँचाने में पटकथा का योगदान महत्वपूर्ण है। फिल्म से ही हिन्दी साहित्य विश्वभर में फैला हुआ है। फिल्म का प्रमुख तत्व पटकथा ही है। फिल्म निर्माण को सुचारू ढंग से करने के लिए पटकथा की अहम भूमिका रही है। साहित्य की सीमा होती है लेकिन फिल्म की कोई सीमा नहीं है। मतलब यह है कि साहित्य सिर्फ शिक्षित लोगों के मनोरंजन के लिये मात्र काम आते हैं। लेकिन फिल्म शिक्षित- अशिक्षित दोनों वर्गों का मनोरंजन करवाते हैं। साहित्य शिक्षित वर्ग के लिये लिखी जाती है। अनपढ-गंवारे लोग से साहित्य का कोई नाता भी नहीं है। लेकिन फिल्म आम जनता की ज़िन्दगी है। उनके सपनों को पंख देनेवाला है। अपने दुख, परेशानी, घुटन, तनाव आदि से बचने के लिये वे फिल्म देखते हैं। फिल्म सबका भरपूर मनोरंजन भी करते हैं। साहित्य से ज़्यादा फिल्म आम जनता के दिल पर राज करता है।

साहित्यकार कतई यह मानने के लिये तैयार नहीं होते कि फिल्म और पटकथा का साहित्य से कोई नाता है। उनके अनुसार पटकथा साहित्य नहीं है लेकिन आज पटकथा पढ़नेवालों की संख्या बढ़ती जा रही है। साहित्य की तरह पटकथा पढ़ने के लिए भी लोग रुचि तथा दिलचस्पी दिखाते हैं। इसलिए यह कहना गलत नहीं होगा कि पटकथा भी साहित्य है। पटकथा भी मनोरंजन करने में सक्षम है। वास्तव में साहित्य और पटकथा एक ही सिक्के के दो पहलू है।

## सन्दर्भ सूची


1. असगर वजाहत- पटकथा लेखन व्यावहारिक निर्देशिका, पृ.19
2. हूबनाथ- कथा-पटकथा-संवाद, पृ.17
3. सी. नाध और वी. ओके- द स्क्रीन रैटिंग हान्डबुक, पृ.41
4. सिड फील्ड- स्क्रीनप्ले द फौन्डेशन आफ स्क्रीनप्ले रैटिंग, पृ.27
5. राजेन्द्र पांडे- पटकथा कैसे लिखें, पृ.9
6. मनोहरश्याम जोशी- पटकथा लेखन एक परिचय, पृ.21
7. डॉ.अनुपम ओझा- भारतीय सिने सिद्धान्त, पृ.169
8. विलियम पर्काड- द आर्ट आफ स्क्रीनप्ले रैटिंग, पृ.1
9. गोविन्द मिश्र- हिन्दी सिनेमा पटकथा लेखन, पृ.15
10. वही
11. वही
12. डॉ. अनुपम ओझा- भारतीय सिने सिद्धान्त, पृ.168-169
13. कमलेश्वर- उसके बाद, पृ.5
14. उमेश राठौर- पटकथा लेखन फीचर फिल्म, पृ.12
15. मन्नु भण्डारी- कथा-पटकथा, पृ.15
16. डॉ. अनुपम ओझा- भारतीय सिने सिद्धान्त, पृ.10
17. विलियम पर्काड- द आर्ट आफ स्क्रीनप्ले रैटिंग, पृ.67
18. गोविन्द शर्मा- हिन्दी सिनेमा पटकथा लेखन, पृ.36
19. वही

20. मन्नु भण्डारी- कथा-पटकथा, पृ.15

21. मनोहरश्याम जोशी- पटकथा लेखन एक परिचय, पृ.105

22. पंडित मुखराम शर्मा- साहित्य वार्षिकी इंडिया टुडे, पृ.236

23. कुलदीप सिन्हा- फिल्म निर्देशन, पृ.110

24. वही, पृ.111

25. राजेन्द्र पांडे- पटकथा कैसे लिखें, पृ.56

26. वही, पृ.57

27. वही

28. राजेन्द्र पांडे- पटकथा कैसे लिखें, पृ.57

29. वही

30. वही

31. वही, पृ.141

32. मन्नु भण्डारी- कथा-पटकथा, पृ.13

33. प्रहलाद अग्रवाल- बाज़ार का बाज़ीगर, पृ.18

34. आजकल- दिसंबर-1990, पृ.28

35. उमेश राठौर-पटकथा लेखन फीचर फिल्म, पृ.14

36. विवेक दुबे- हिन्दी साहित्य और सिनेमा, पृ.1

37. वही, पृ.8

38. विवेक दुबे- हिन्दी साहित्य और सिनेमा, पृ.16

JYOSMI. K. “A STUDY OF TRIBAL LIFE IN HINDI SCREENPLAY”. THESIS. DEPARTMENT OF HINDI, UNIVERSITY OF CALICUT, 2018.

## तीसरा अध्याय

# आदिवासी जीवन केन्द्रित पटकथा

## 3.1 मनोरंजन के बाज़ार में आदिवासी

आज सिनेमा मनोरंजन का सबसे बडा माध्यम है। दृश्य और श्रव्य का यह युग्म जनमानस में साहित्य की अपेक्षा कहीं ज़्यादा स्वीकृत, प्रचलित और प्रभावी है। साहित्य विश्व की प्राचीनतम कला है तो सिनेमा नवीनतम। सिनेमा हमें समाज में व्याप्त अच्छाइयों और बुराईयों को दिखाकर उनके लिए लडने की प्रेरणा भी देता है और हमारे विचारों का रेचन-विरेचन भी करता है। सिनेमा में समाज अपनी सारी समग्रता, सारी खूबी और खामियों के साथ अभिव्यक्त है, जो न केवल समाज की अच्छाइयों को उजागार करता है वरन् समाज के सबल और अच्छे पक्ष के साथ उसके दुर्बल और बुरे पक्ष को भी दिखाता है, सिनेमा का प्रभाव व्यक्ति पर अच्छे और बुरे दोनों तरीके से पडता है।

सिनेमा समाज का आईना होता है, जो वक्त की सच्चाईयों से हमें अवगत कराते हुए तत्कालीन परिस्थितियों के बदलाव में सहायक होता है, सिनेमा न सिर्फ मनोरंजन का साधन मात्र है, बल्कि वह हमारी सोच हमारी मानसिकता को नई दिशा प्रदान कर हमारे विचारों में परिवर्तन लाने की चेष्टा करता है।

भारत में फिल्मों ने सौ वर्षों की यात्रा पूरी कर ली है। आज हिन्दी सिनेमा अपनी चकाचौध के चरम सीमा पर है। इससे हॉलिवुड की प्लास्टिक चमक का मुकाबला ही नहीं कर लिया है, वरन् उसे अपने हुनर से पीछे भी छोड दिया है। "जब हम भारतीय सिनेमा की बात करते है तो हमारे ज़हन में भारत की संस्कृति, सभ्यता, इतिहास और भाषा पहले आती है क्योंकि भारतीय सिनेमा का इन सबसे बहुत गहरा नाता है। जैसे-जैसे, वक्त बदल रहा है वैसे-वैसे सिनेमा का रूप बदल रहा है। सभ्यता, संस्कृति, भाषा और इतिहास को सिनेमा जगत में बडी खूबसूरती से

दर्शाया गया। रिश्तों की खूबसूरती तो कभी उल्झे हुए रिश्ते भी फिल्मों में देखने को मिलते है। जो कही न कहीं हमारी निजी ज़िन्दगी पर आधारित होते हैं, जिनकी कहानी हमें हमारी ज़िन्दगी से जुडी हुई लगती है। बदले हुए समाज का रूप रंग और स्वरूप हमें भारतीय सिनेमा में बखूबी देखने को मिलता है।"[1] बाज़ारवाद ने सिनेमा के सुनहले संसार के रूप-स्वरूप को काफी हद तक बदला है। मुनाफे की संस्कृति में सिनेमा का बाज़ार वैश्विक हो चुका है। वाजिब-सी बात है कि निर्माता भी विशुद्ध व्यावसायिक नज़रिए से विषय और मुद्दे की तलाशा करता है।

सिनेमा या चलचित्र आज के परिप्रेक्ष्य में केवल मनोरंजन एवं व्यवसाय के लिए ही नहीं बल्कि सामाजिक गतिविधियों के हल ढूंढने का भी महत्वपूर्ण साधन है। आज सामाजिक सरोकारों को देखने का नज़रिया भी बदला-बदला सा है। अब तो जीवन की खुरदरी सच्चाई भी पर्दे पर रोमानी अंदाज़ में सामने आती है। दर्द-दंश और दलन मनोरंजन बन जाता है।

भारत के बहुत सारे समाज सुधारकों ने अछूतों की ज़िदगी को बदलने की कोशिश की लेकिन अजीब बात यह है कि प्रचार के सबसे अच्छा साधन होकर भी सिनेमा इस विषय से अछूता रहा।

दरअसल शुरूआत से ही सिनेमा पर उच्च वर्ग का या उच्च जाति का प्रबल प्रभुत्व रहा है। इस कारण से दलित और आदिवासी को फिल्मी दुनिया ने अछूता ही रखा है। फिल्म जगत में आदिवासियों की अस्मिता को सामने लाने वाली फिल्में बहुत कम बनायी गयी हैं। और गैर आदिवासी द्वारा बनाई गयी फिल्मों में आदिवासियों की प्रकृति अमूर्त प्रतीत होती है।

सिनेमा जहाँ बच्चों के लिए जादुई-लुभावना मनोरंजन है, वहीं वह किशोर युवाओं की चुंबकीय चाहत। सिनेमा के प्रति गहन अनास्था रही, उसे सामाजिक बुराई मानते हुए भी समाज उसके बढते गहराते प्रभाव को रोक न सका।

दलित, आदिवासी चूँकि सभ्यता के विकास में प्रारंभ से ही हाशिए पर फेंक दिए गये इसलिए फिल्मकारों का ध्यान इस ओर देर से गया। 20 वीं सदी के मध्य से आमजन के बीच अभिव्यक्ति के नये माध्यम के रूप में सिनेमा आया, पर आज 21 वीं सदी के दूसरे दशक के मध्य में पहूँचकर भी इस हाशिए के समाज को पर्दे पर कम ही चित्रित होते देखते हैं। भारतीय सिनेमा में आदिवासियों का यथार्थ चित्रण उजागर करने की कम ही कोशिशें की गयी हैं।

यह सच है कि चकाचौंधभरे व्यवसाय और पूँजी नियंत्रित बनावटी निर्मिति होने के कारण फिल्म कला कई नकारात्मक बातों से हमेशा नियंत्रित रही, कई बार वह नकारात्मक बातों का मंडप होती रही और जनता को ठगती रही।

सिनेमा दृश्य-श्रव्य माध्यम होने के कारण प्रभावी भूमिका निभा पाने में सक्षम है। शिक्षित शहरी वर्ग से लेकर ग्रामीण वर्ग मज़दूर से लेकर मालिक तक सभी लोग इसे पसंद करते हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्व से परिपूर्ण हर ईमान्दार और गंभीर रचना की तरह सिनेमा में भी अपनी देशकाल का हस्ताक्षर होता है। अपने युग-संदर्भों का आईना होता है सिनेमा और उसमें पूर्णतया समसामायिक सामाजिक जीवन का ही प्रतिफलन है।

जिस तरह साहित्य में आदिवासी आत्मकथाओं को पढकर आदिवासियों को अपनी आपबीती सरीखा लगता है, उसी तरह सिनेमा को देखकर आपबीता नहीं

लगता तो उनका मूल कारण यही है कि इन फिल्मों में स्वयं आदिवासी पात्रों या उनके वास्तविक अनुभवों का शामिल न होना ही है। इस स्थिति में परिवर्तन तभी संभव होगा जब भारत के सभी राज्यों की भाषाओं में आदिवासी लेखकों एवं निर्देशकों की संख्या बढेगी। इसी से उस समाज का यथार्थ रूप सामने आयेगा।

अपने प्रारंभिक सिनेमा की कहानियाँ पौराणिक, ऐतिहासिक हुआ करती थीं लेकिन समय के साथ उसमें भी बदलाव आया। समाज के प्रति प्रतिबद्ध कलाकारों ने तो मनोरंजन के साथ-साथ समाज के यथार्थ पक्ष को प्रदर्शित किया परन्तु इस माध्यम को शुद्ध व्यवसाय समझनेवाले तथा समाज के प्रति किसी भी प्रकार के नैतिक दायित्व से मुँह मोडनेवाले लोगों ने इसका दुरुपयोग ही अधिक किया। कुलमिलाकर वैसे हिन्दी सिनेमा अपने सामाजिक सरोकारों से कभी विलग नहीं हुआ बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि अपने उद्‌भव काल में पौराणिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक विषयों तक सीमित रहनेवाले हिन्दी सिनेमा ने अपने को शीघ्र ही इस दायरे से बाहर किया तथा समाज के प्रति ज़्यादा सचेत एवं संवेदनशील बन कर उभरा।

आदिवासियों पर आधारित जो थोडी फिल्में आई भी हैं, तो उन्हें समझने के लिए पाठक उतना तैयार नहीं होता क्योंकि वह उनकी स्थिति और परंपराओं से बिल्कुल अनभिज्ञ होते हैं। वह फिल्म देख कर भले द्रवित हो, सहानुभूति रखे पर उनसे खुद को जोड नहीं पाता। आदिवासियों के क्षेत्र-स्थान, भाषा-बोली, रीति-रिवाज़ आदि की जानकारी इकट्‌ठा करना और उनके दुख और वस्तुस्थिति से स्वयं को जोड पाना न सिर्फ निर्देशक बल्कि नायक-नायिका के लिए भी एक चुनौती है। इन तथ्यों की बारीकी से अध्ययन की आवश्यकता रहती है। तभी आदिवासियों की

वास्तविक स्थिति को पर्दे पर संजीदे ढंग से फिल्माया जा सकता है। इसके साथ एक ओर बडी समस्या है दर्शक वर्ग। भारतीय संदर्भ में यदि बात किया जाए तो मध्यवर्ग ही सबसे अधिक फिल्में देखता है और उनसे प्रभावित भी होता है। लेकिन मध्यवर्ग का फिल्म देखने का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन होता है। फिल्म से कोई शिक्षा या प्रेरणा मिल जाय तो वे बाई-प्रोडक्ट के रूप में ही देखी जाती है।

सामाजिक परिवर्तन के साथ फिल्मी दुनिया भी बदलने लगे। समाज की ज्वलंत मुद्दों को फिल्म का विषय बनाने लगा। स्त्री पर होनेवाले शोषण, अत्याचार और जुल्म को मद्धेनज़र रखते हुए फिल्म में स्त्री चरित्र के विविध आयाम हमारे सामने आने लगे। स्त्रियों की पारंपरिक छवि अर्थात् प्रेम, दया, स्नेह, करुणा के साथ-साथ उस छवि को चुनौति देती सशक्त महिला की छवि भी सामने आती रही। मगर सशक्त और आधुनिक स्त्री चरित्रों वाली फिल्मों को हम केवल उँगलियों पर गिन सकते हैं। अगर फिल्मों को समाज का दर्पण माने तो समझ में आता है कि क्यों उस समय की ज्यादातर फिल्मों ने महिला किरदार पारंपरिक होती थी। अगर कोई स्त्री चरित्र आधुनिक होती तो वह नायिका नहीं खलनायिका की श्रेणी में आती थी।

प्रश्न यह है कि जब सिनेमा 'स्त्री' को लेकर इस तरह की संकुचित दृष्टि रखता है तो उसके अंदर आदिवासी स्त्री-सवर्ण स्त्री के साँचें को कैसे फिट किया जाय। धर्म और जाति-बिरादरी अलग होती है लेकिन स्त्री मन के सुख-दुख एक ही होते हैं। देखा जाय तो सिनेमा ने स्त्री को बस 'देह' के आधार पर ही आंका हैं। और ऐसे में कोई फिल्मकार नारी विषयक मुद्दों पर फिल्में बनाने का साहस करते हैं

तो उन्हें नारीवादी करार दिया जाता है। उन फिल्मों को भी 'स्त्री केन्द्रित' कहकर प्रचार किया जाता है।

भारत में सिनेमा एक अतिशय महत्व की जगह पर विराजित है। सिनेमा के पास संप्रेषण की जो सशक्त ताकत है, वह उसे उपेक्षाओं की भारी-भरकम सूची थमा देती है। यही कारण है कि सिनेमा से बस मनोरंजन की आशा नहीं की जाती, बल्कि तमाम विमर्शों सामाजिक-राजनीतिक यथार्थों के प्रतिबिंबों को ढूँढने की चेष्टा भी उसमें अक्सर रहती है। कहा भी जाता है कि सिनेमा समाज का प्रतिबिंब है, ऐसे में यह लाजिमी हो जाता है कि सिनेमा समाज में मौजूद हर पक्ष को स्वर देने की कोशिश करें। "शुरु के दौर में भले ही अधिकांश फिल्में धार्मिक विषयों पर ही बनाई गई, लेकिन वक्त के साथ-साथ फिल्मों का दाया संख्या के साथ-साथ विषयों पर भी बढता गया। कई सामाजिक, सांप्रदायिक, आर्थिक और राजनैतिक विषयों पर आधारित सती, विधवा और बाल-विवाह, अविवाहित मातृत्व, देवदासी प्रथा, वेश्यावृत्ती, बलात्कार, विवाहेतर संबंध, आतंकवाद और जातीय हिंसा जैसे कई विवादित विषयों पर काफी प्रभावशाली और संवेदनशील फिल्में बनी, जिसका भारतीय जनमानस पर गहरा प्रभाव हुआ।"[2]

आज सिनेमा के अंतर्गत आदिवासी प्रश्न एवं प्रसंग पूर्णतः उपेक्षित है। शुरूआती दौर से ही इस दिशा में अबूझ उदासीनता देखने को मिलती रही है। दलितों के सवाल पर तो कई अभिनव प्रयोग सिनेमा में देखने को मिलती रही है। मगर आदिवासी दलित नहीं है इसलिए ऐसे प्रयोगों से आदिवासी समाज अछूता रहा है।

सिनेमा से जुडा एक तथ्य यह भी है कि साहित्य लेखन में बाज़ार की अहम भूमिका नहीं होती जबकि सिनेमा में बाज़ार का तत्व ना केवल लागू होता है बल्कि हावी भी होता है। हिन्दी फिल्मों का मौजूदा परिदृश्य बहुत बदल चुका है। हर तरह की फिल्में बन रही हैं विषयों में इतनी विविधता पहले कभी नहीं दिखाई दी। छोटे बजट की फिल्मों का बाज़ार भी फूल-फल रहा है। साहित्यिक कृतियों पर फिल्म बनाने की समझ रखनेवाले युवा हिन्द भाषी फिल्मकारों की जमात तैयार हो चुकी है। लेकिन फिलहाल हिन्दी फिल्में पत्रकारिता से फायदा उठा रही हैं। अभी ज़ोर बायोग्राफिकल फिल्में बनाने पर अधिक है शायद अगला नंबर कृतियों का हो लेकिन ज़रूरी नहीं वे कृतियाँ हिन्दी साहित्य की हों।

आदिवासियों का अपना अलग समाज रहा है- जंगलों में, पहाडों में, देश के कुदरती संसाधनों से उनका जुडाव रहा है लेकिन मुख्यधारा की जातीय-वर्णीय व्यवस्था में आदिवासी कहीं नहीं है। आदिवासी समाज को देखने का लोगों का मुख्य रूप से दो दृष्टिकोण है। एक तो आदिवासी लोग जंगली, बर्बर होते हैं। खासकर हिन्दू पौराणिक मिथकों में आदिवासियों को राक्षस, दानव और असुर वगैरह कहकर उनके विरुद्ध मनुष्य विरोधी भयानक छवि प्रस्तुत की गयी है। आज आदिवासी सत्ता की संगीनें और नक्सली बन्दूके इन दो पाटों के बीच फँसा हुआ है। आदिवासी समाज को देखने का दूसरा नज़रिया 'रोमांटिक' है। आदिवासी स्त्री को अर्धनग्न रूप में फिल्माकर उनकी देह की नुमाइश करते हैं।

हिन्दी फिल्मों में प्रारंभिक काल से ही आदिवासियों की झलक देखने को मिलते हैं। दर्शकों को लुभाने के लिये छोटे कपडों में उनका नाच-गाना पेश करते हैं। असल में आदिवासियों की संस्कृति से भिन्न अलग परिवेश में उनके समाज को

दिखलाते हैं। निर्देशक आदिवासी समाज को मनोरंजन के दायरे में ही सीमित रखते हैं।

हिन्दी फिल्मों में आदिवासी जीवन की इस कदर मिलनेवाली सतही, गैर जिम्मेदाराना, अनुभव और यथार्थ से दूर की जाने वाली अभिव्यक्तियों के बावजूद हमें कुछ फिल्में आकर्षित, प्रभावित और आन्दोलित करने में सक्षम हुई हैं।

फिल्मों में आदिवासियों की जंगली और बर्बर स्थिति दिखाने के पीछे काफी हद तक औपनिवेशिक मानसिकता ज़िम्मेदार है। पिछले पाँच वर्षों में बनी हिन्दी फीचर फिल्मों को देखें, तो वही परंपरागत दृष्टिकोण सामने आता है। जब किसी आदिवासी मुद्दों पर कोई फिल्म बनाई जाती है, तो आदिवासी समाज का यथार्थ कहीं न कहीं दृष्टिगोचर होना चाहिए।

साहित्य से ज़्यादा जनमानस से निकट संबंध रखनेवाला फिल्म ही है। सिनेमा और साहित्य के संबंध में कुसुम असल कहती है- "पुस्तक और फिल्म दोनों के मध्य खडे होकर मुझे लगा कि पुस्तक एक बंद दरवाज़ा है, जिसके पृष्ठ खोलने पर हाथत लगते हैं उनके दृश्य। वे दृश्य जहाँ फूल खिल रहे हैं, सूर्य उग रहा है, चाँद आकाश पर टंगा है और फिल्म एक ऐसा द्वार है, जहाँ खोलने को कुछ नहीं है, सभी कुछ आखों के सम्मुख, सामने घटित होता हुआ। उपन्यास पर बनी हुई फिल्म कुछ ऐसी होती है कि झरने के ऊपर से कोई पत्थर उठा दे और इतना प्रपात बन जाए, या एक ऐसा दरवाज़ा जो बाहर भीतर के दृश्य को समूची लैडस्केप प्रदान करने में सफल हो जाए। आज के संदर्भ में सिनेमा ही एक ऐसा मीडिया है, जिसके माध्यम से अपनी बात हर वर्ग तक पहूँचाई जा सकत है, वे बात अलग है कि उसका विवेचन इंटरप्रटेशन सबका अपना-अपना होता है।"[3] आदिवासी समाज के समस्याओं को

केन्द्र में रखकर फिल्म बनाने में कोई दिलचस्पी नहीं रखते। फिल्म क मुख्य उद्देश्य ही व्यवसाय है। पर्दे पर चलनेवाले विषयों को ही आजकल के निर्देशक फिल्म के लिये चुनते हैं। उनके लिये मुनाफा ही ज़्यादा महत्वपूर्ण है। इसलिए आदिवासियों की व्यथा-कथा को लेकर खुद को घाटे में डालने के लिए कोई तैयार नहीं होते हैं। याने आदिवासियों की सेवा या उद्धार करना किसी फिल्मकार का लक्ष्य नहीं है।

वास्तव में इसके पीछे का असली कारण है कि आदिवासी फिल्मों के लिये प्रयोजक जल्दी नहीं मिलते क्योंकि उन्हें भारतीय बाज़ार में इनके न चल पाने का संशय रहता है और बिना आर्थिक मदद के फिल्म संभव नहीं है। इन्हीं प्राथमिक चुनौतियों के कारण निर्देशक ऐसी फिल्में बनाने का जोखिम उठाना पसंद नहीं करते हैं और वे भारतीय दर्शक जो आदिवासी साहित्य कभी पढते ही नहीं, वे हाशिए की इस दुनिया के सिनिमाई मंचन से भी वंजित रह जाते हैं। परिणामत वे भावनात्मक स्तर पर आदिवासी समाज के यथार्थ परिस्थिति से हमेशा अपरिचित ही बने रहते हैं।

भूमण्डलीकरण के इस दौर में हिन्दी फिल्म में भी समाज के जटिल और ज्वलंत मुद्दों को लेकर फिल्म बनाने की शुरूआत हुई है। "Film is often a reflection of the society that produces it, and an especially truthful approach to understanding films is to study the social comments of films or to consider society's impact on the film content."[4] स्त्री पात्र को केन्द्र में रखकर आज कई फिल्में निकल रही हैं। अपने किरदार को प्रभावी बनाने के लिए किसी भी हद तक जाने के लिये अभिनेता तैयार होता है। सीन वलगर हो या अपनी सभ्यता की, सीमा के बाहर हो 'स्क्रिप्ट की डिमान्ड' कहकर बिना संकोच के अभिनेता सब कुछ करने के लिये तैयार खडे है। आजकल इसी प्रकार के फिल्में ही

पर्दे पर चलती हैं। दर्शक ऐसे फिल्मों को देखने के लिये उतावले होते हैं। इससे वाकिफ निर्माता और निर्देशक ऐसे फिल्में बनाने में ज़्यादा ध्यान देते हैं।

बॉलीवुड आज भी हाशिएकृत समाज को लेकर फिल्म बनाने में कतराते हैं। सब अपने मुनाफे के बारे में ही सोचते हैं। दूर-दराज, जंगलों में बसनेवाले आदिवासियों की व्यथा-कथा देखने के लिए कोई दिलचस्पी नहीं दिखाएगा। व्यवसायी सिनेमा ही आजकल चलते हैं कला-फिल्में कुछ सीमित लोगों में ही चर्चित होते हैं। आदिवासी अत्याचार, शोषण और विस्थापन से परेशान है। आदिवासी लेखक द्वारा ही उसका यथार्थ चित्रण प्रस्तुत कर पायेगा। अपनी समाज की दुर्दशा का सही चित्र पेश करने में गैर आदिवासियों से ज़्यादा आदिवासी को ही सामने आना चाहिए।

फिल्म एक ऐसी माया नगरी है कि आँख चपकते ही व्यक्ति को अमीर और गरीब बनाने की ताकत रखती है। आजकल के निर्देशक निर्माता को यह भी सोचना चाहिए कि समाज के प्रति उनका कुछ दायित्व है। पैसा कमाना मात्र जीवन का लक्ष्य नहीं है। चकाचौंध भरी रंगीन जीवन के साथ एक वक्त की रोटी के लिये जूझती आम आदमी के प्रति भी अपनी नज़र खोलकर रखें। ऐसे हाशिएकृत समाज को भी पर्दे पर लाये जो इस देश के मूलनिवासी है। सच्ची कहानियों की हमेशा जीत होती हैं। इसलिए दलित और आदिवासी समाज का भी यथार्थ चित्रण परदे पर करना आवश्यक है। जिससे लोग आदिवासी को जाने, समझे और उनकी समस्याओं से महरूम हो जाये। लेकिन विडंबना की बात यह है कि ऐसे सोचनेवाले लोगों की प्रतिशत बहुत कम है। सबको सिर्फ अपना परवाह है दूसरों के लिए उनके पास समय नहीं है।

आश्चर्य क बात है कि हिन्दुस्तान के पूरे फिल्मी इतिहास में एक भी ऐसा आदिवासी अभिनेता नहीं है, जो एक आदिवासी की तरह सोच सके, महसूस कर सके, बोल सके, अपने समाज के सिर पर मंडरा रहे बहुआयामी संकटों से मुक्ति पाने के लिये कुछ कर सके। यह सब करने के लिए चाहिए एक सुदृढ वैचारिकी, जो फिल्मकारों के पास नहीं है।

### 3.1.1 हिन्दी फिल्मों में आदिवासी जीवन

सिनेमा जनमाध्यम का एक ऐसा दृश्य माध्यम है, जिसको स्थापित करने का श्रेय फ्रांसीसी भाईयों 'अगस्ट' और 'ल्यूमियर' को जाता है जिन्होंने बीसवीं सदी के अंतिम दशक में अपने लघु चित्रों को विश्व के अन्य देशों में प्रदर्शित कर एक नए व्यावसायिक एवं संचार क्रांति का मार्ग प्रशस्त किया। इसके लिये सिनेमा जगत आज भी उनके योगदान और प्रतिभा का ऋणि है।

निसंदेह सिनेमा का मूल उद्देश्य मनोरंजन है, इसलिए फिल्मों में प्रेम, सेक्स, हिंसा जैसे तत्वों की प्रमुखता रहती हैं किन्तु भारतीय फिल्में देश की परिस्थितियों और सामाजिक परिवर्तन से उपजी समस्याओं और चिंताओं का चित्रण भी करते हैं। "सिनेमा को यदि आप समझना चाहते है तो उसे एक कला के रूप में ही समझा जा सकता है। जहाँ तक समाज पर सिनेमा के पडनेवाले प्रभाव की बात है तो मेरे विचार से समाज और सिनेमा दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। नई पीढ़ी पर सिनेमा का विशेष रूप में प्रभाव पडता है। वास्तव में नई पीढ़ी के लिए सिनेमा की वही भूमिका है। जो संयुक्त परिवार में दादी-नानी की होती है। युवाओं के समाजीकरण में दादी-नानी जो बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी वही भूमिका आजकल सिनेमा मूल रूप से निभा रहा है।"[5]

ग्लैमर की दुनिया एक अनूठी दुनिया होती है। जिसके लुभाते दिलकश नज़ारे भुलाए नहीं भूलते। बॉलीवुड ने समय की नज़ाकत को बारीकी से पकड मनमोहक अंदाज़ में पर्दे पर पेश किया है। उन्नीसवीं शताब्दी की औपनिवेशिक शिक्षा-दीक्षा से साक्षर समाज पर पश्चिम के प्रभाव और प्रतिरोध की मिली-जुली सरल संश्लिष्ट प्रतिक्रियाएँ एक साथ फिल्मी दुनिया में देखी जा सकती हैं।

आज फिल्में जन-सामान्य के लिए मनोरंजन तथा शिक्षण का सशक्त माध्यम बन गयी हैं। जो भी हो भारतीय फिल्मों ने जीवन के हर पहलू पर बडी गंभीरता से विचार किया और उसे पर्दे पर दिखाया है। आज जिस कदर जीवन मूल्यों का ह्रास हो रहा है उसका सुधार आनेवाली फिल्में ही करेंगी।

सिनेमा की मुख्यधारा से अलग रहने वाले निर्देशकों का तरीका कुछ अलग ही होता है, इसलिए वे अक्सर व्यावसायिक फिल्मों के निर्देशकों से ज़्यादा आज़ाद होते हैं। उनके लिए दर्शकों का ख्याल इतना महत्वपूर्ण नहीं है, लेकिन इसके बावजूद कला फिल्में, समांतर फिल्मों और स्वतंत्र फिल्मों सहित हिन्दी सिनेमा में आदिवासी समस्याओं के चित्रण का अभाव है। यह बात वाकई अजीब है क्योंकि आज़ाद निर्देशकों के लिए औरतों की स्वतंत्रता, धर्मों के क्षेत्र में लडाई या घूसखोरी, राजनीतिक दंगे-फसाद दिखाने में कोई समस्या नहीं है, पर जाति की जकडबंदी पर सवाल खडे करने की हिम्मत उपर्युक्त सारे क्षेत्रों से ज़्यादा चुनौतीपूर्ण है।

हिन्दी सिनेमा के सौ साल के इतिहास में आदिवासियों के बारे में ज़्यादा फिल्में नहीं की गयी हैं। शुरू में ऐसा लगा कि गाँधीजी और उनकी तरह के दूसरे सुधारकों की मदद से यह विषय लोकप्रिय होगा, लेकिन जल्दी ही ऐसी फिल्में

मुख्यधारा की विषय से बाहर हो गयी। आधुनिक सिनेमा में सब कुछ दिखाया जाता है इसलिए इस विषय से इतना डर ज़्यादा अजीब लगता है।

हिन्दी फिल्मों में आदिवासी पर नज़र डाले तो यह साफ हो जाएगा कि सभ्य समाज के लिये आदिवासी या तो जंगली, बर्बर होते हैं, नहीं तो दिल लुभानेवाली अर्द्धनग्न शरीर। इस पृष्टभूमि में देखा जाय तो सबसे पहले हिन्दी फिल्म के 'आदिपुरुष' दादा साहेब फाल्के पर दृष्टि जाती है। उनकी 'बुद्धदेव और सत्यवान सावित्री' को छोडकर सारी फिल्मों में आदिवासियों को भयानक राक्षसों के रूप में चित्रित करते हुए उनके सर्वनाश को सबसे बडा धर्म बताया गया है। इस दृष्टि से बहुत सारे फिल्में हिन्दी और क्षेत्रीय भाषाओं में बनी है।

सदियों से दासता और दलन के शिकार आदिवासी अपनी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिये संघर्ष किया जा रहा है। लेकिन मुख्यधारा के जातीय-वर्णीय व्यवस्था में आदिवासी कही नहीं है। हिन्दी में इस जातीय व्यवस्था में ख़ुमसी कुप्रथाओं में 'दो बीघा ज़मीन' (1953), 'बूट पॉलिश' (1954), 'सगीना महतो' (1970), 'अंकुर' (1974), 'आक्रोश' (1980), 'चक्र' (1984), 'गुलामी' (1985), 'दीक्षा' (1991), 'दौलत की जंग' (1992), 'धर्म चमकू' (2008), 'वेलकम टू सज्जनपुर' (2008), 'रेड अलर्ट द वॉर विदिन' (2009), 'रावण' (2010), 'पीपली लाइव' (2010), 'आरक्षण' (2011), 'शूद्रः द राइज़िंग' (2012) आदि फिल्मों में कई समस्याओं को उजागर किया है। मगर जीवन की जद्दोजहद में दलित के साथ आदिवासियों को इन फिल्मों में संघर्ष करते हुए नहीं देखा जा सकता है।

आदिवासियों की संवेदना और संत्रास आम आदमी की संवेदना और संत्रास से अलग है। ढ्रेरों अतिक्रमण के बावजूद भी आदिवासियों की दुनिया आज भी एक पहेली है। दुर्गम इलाकों में उनकी बसावटों तक जाना सहज नहीं है। वही वजह है कि हर क्षेत्र की तरह सिनेमा के संसार में भी आदिवासी उपेक्षित है।

भारतीय सिनेमा के आरंभिक काल में महबूब के निर्देशन में 1942 में 'रोटी' फिल्म बनी थी। दर्शकों को लुभाने के लिये अर्ध नग्न मुद्रा में कुछ नाच-गानों को फिल्माया गया। हालांकी यह फिल्म पूँजीवादी शोषण का विरोध करती है। विमल रॉय की फिल्म 'मधुमति' बहुत अच्छी फिल्म है जो पुनर्जन्म पर आधारित है लेकिन उसमें भी आदिवासी के प्रति वही रोमांटिक रवैया रहा है। आदिवासी नृत्यों को पर्दे पर लानेवाली अन्य फिल्मों में 'विलेज गर्ल', 'अलबेला', 'दुपट्टा', 'श्रीमतीजी', 'टार्जन और जादुई चिराग', 'दिलरूबा', 'टावर हाउस', 'कारवाँ', 'धर्मात्मा', 'तराना', 'शिकार' आदि हैं। हिन्दी फिल्मों के सौ साल पूरे होने के बाद भी आदिवासी समाज को प्रति फिल्मकारों का नज़रिए वही का बना हुआ है।

सत्ता की मेहरबानी से बहुराष्ट्रीय कंपनियों के काफिले ने आदिवासी समुदायों के परिवेश, संस्कृति और सामाजिक एकबद्धता के सूत्रों की धज्जियाँ उडा दी हैं। आदिवासी कभी इस देश का सबसे सुखी-समृद्ध एवं अनुशासित समाज रहा है। जो किसी ज़मीन्दार, तहसीलदार या पटवारी के चाबूक की परवाह नहीं करता था। महेन्द्र शाह की 'नागिन' (1954) नागी आदिवासी समुदाय पर केन्द्रित है। इस फिल्म में दो आदिवासी समुदायों की आपसी रंजिश को बेहद संजीदगी से फिल्माया है।

दुनिया के लिये आदिवासी समाज या तो अर्द्ध-नग्न है या श्वेत-श्याम साडियों में नाचती-गाती स्त्रियों के समूह के साथ नशे में धुत्त मर्दों की टोली है, जो मूलतः असभ्य, बर्बर और हिंसक है। जिनसे दूरिया रखने में ही भलाई है। 'शिकारी' (1963), 'राजकुमार' (1964), 'दो दिल' (1965), 'सावन की घटा' (1966), 'इज्जत' (1968), 'महुआ' (1963), 'तलाश' (1969), 'मर्यादा' (1971), 'फिर कब मिलेगी' (1974), 'शालीमार' (1978), 'कर्तव्य' (1979), और 'मिस्टर मटवरलाल' (1979) , 'कुदरत' (1981) और 'जनम-जनम' (1988) आदि फिल्मों में आदिवासी पात्र एवं उनका समाज फैशनेबल ढंग से दिखाता है। इनमें से ज्यादातर फिल्मों में आदिवासी कबीलों का जो स्वरूप गढा गया उसमें या तो उनके कबीले की कन्या शहरी युवा के दिल में जा बैठती है या बाहरी लोग उनके भोलेपन का फायदा उठाते हैं।

हिन्दी फिल्मों में जितनी भी फिल्मों में आदिवासी दिखे भी तो वे नायक-नायिका के सहयोगी बनकर, या कहानी की माँग के अनुसार वन्य अंचलों की घटनाओं का सहारा लिया गया ताकि फिल्म में थोडी नवीनता आए, ताज़गी आए। कोयला खदान दुर्घटना पर आधारित सुपरहिट फिल्म 'काला पत्थर' (1979) जिसमें आदिवासी या उनकी समस्याओं का ज़िक्र नहीं है। वास्तव में जो दुर्घटना हुई वह इलाका आदिवासी बहुल है और दुर्घटना में मरनेवाले मज़दूरों में ज़्यादातर आदिवासी ही थे। 'ये गुलिस्ताँ हमारा' (1972) में स्थानीय आदिवासी समाज की वास्तविक दशा की बेहतर तस्वीर मिलती है। लेकिन विडंबना यह है कि 'नागिन' के अलावा जितनी भी आदिवासी फिल्म बने उसमें आदिवासी गौण है। बंजारा समाज को केन्द्र में बनाकर बनी फिल्में 'धरम वीर' (1977), 'महबूबा' (1976),

'तराना' (1979), 'धर्मात्मा' (1975), 'कारवाँ' (1971) आदि बंजारों की जीवन का मार्मिक चित्रण है। बंजारा समाज के माध्यम से निर्देशक ने बेहद सुन्दर प्रेमकथा को कैनवास पर सादगी से उतारा है।

आज फिल्मों में आदिवासी समाज को नक्सलवाद और आतंकवाद से जोडकर देखा जा रहा है। "राजनेता जब अपनी ही चालो में रहते हैं, सरकारें पंगु बन जाती हैं तो और क्या उपाय बच जाता है, सिवाय इसके की एक आदमी आतंकवाद के खिलाफ खुद उठ खडा हो। उन्हीं की चाल से, उन्हीं के इस खूनी खेल में उन्हें ही मात दे। फिल्म की ताकत उसे इस मेसेज में है कि आखिर कब तक जनता एक ओर राजनेताओं तथा राजनीतिक पार्टियों और दलो की गंदी-घिनौनी चालों और आतंकवादियों के इस बर्बर, खूनी, हिंसक तथा अमानवीय खेलों को बर्दाश्त करती रहेगी।"[6] फिल्म 'टेंगो चार्ली', 'द-नक्सलाइट', लाल सलाम', 'हज़ारों ख्वाहीशें ऐसी', 'रेड अलर्ट', 'चक्रव्यूह' आदि फिल्में नक्सलवाद पर आधारित है। प्रस्तुत फिल्में सीधे-सीधे उन आदिवासी क्षेत्रों के वृत्तान्त प्रस्तुत करती है, जहाँ नक्सली समस्या अपनी पाँव पसार चुकी है और उसके खात्मे को लेकर सरकार भी सलवाजुडुम के रूप में राजकीय हिंसा से अपना संबंध बना चुकी है। आदिवासियों को आपस में लडाकर काम तमाम करना सरकार का षड्यंत्र है।

इस प्रकार की हिन्दी सिनेमा के क्षितिज पर आदिवासी जीवन के पदचिह्न स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। आदिवासी जीवन के हर पहलू को उजागर करने की कोशिश की है। लेकिन सवाल यह है कि हिन्दी सिनेमा के पर्दे पर आने वाले आदिवासी में यथार्थ कितना है। आदिवासी जीवन के वास्तविक प्रस्तुतीकरण को लेकर आश्वस्त होने की समय अभी तक नहीं आया है। आदिवासी जीवन से अनभिज्ञ

लोगों के द्वारा बनी फिल्मों में कितनी सच्चाई हो सकती है यह सबसे बडी विडंबना है। इसलिए स्वयं आदिवासी कलाकारों का सीधा हस्तक्षेप फिल्मी क्षेत्र में होना महत्वपूर्ण हो जाता है।

भारतीय समाज का ढाँचा जटिल जातिवादी दृष्टिकोण पर आधारित है और इसके आधार पर स्त्री और पुरुष पर उत्पीडन होता रहा है। फिल्म सामाजिक और सांस्कृतिक उत्पाद का कार्य करती है। आदिवासी की यथार्थ जीवन को चित्रित करनेवाली फिल्में गिनी-चुनी ही है। ज्यादातर फिल्में आदिवासी को रोमांटिक या जंगली सिद्ध करने के लिये फिल्माया गया है। अतः फिल्मों में आदिवासियों को दिया जाने वाला स्पेस नगण्य है और जो स्पेस दिया जा रहा है उसमें रोमांटिक दृष्टिकोण अधिक नज़र आता है। कई फिल्मों में आदिवासियों की भूमिका हास्य प्रसंग की पूर्ती के रूप में दिखाया जाता है। किन्तु कुछ फिल्मों में आदिवासी समाज को नकारात्मक ढंग से भी दिखाया जाता है। जैसे फिल्म 'सरफरोश' में राजनीतिक-स्थानीय लूटपाट का दोषारोपण आदिवासी समुदाय पर लगाया जाता है।

सिनेमा एक ऐसी विधा है जिसके माध्यम से समाज की वास्तविक छवि को देखने को मिलती है। आज उत्तराधुनिकता की दहलीज़ पर खडे हैं फिर भी कुछ चीज़ें है जिनमें विशेष परिवर्तन नहीं आये हैं और उनमें सर्वप्रमुख है- वर्ण व्यवस्था और जातिगत भेदभाव। आज भी हमारे शिक्षित समाज जाति व्यवस्था को मान रहा है। बहुत कम लोग ही इसके जकडन से बच पाये हैं।

गाँवों के ज़्यादातर लोग तो अभी भी जाति व्यवस्था को लेकर चल रहे हैं। इसका सीधा शिकार दलित और आदिवासी है। आदिवासी समाज के पुरुष, स्त्री, बच्चे सभी अत्याचार के शिकार होते हैं, इनमें ज़्यादा शोषण की शिकार होती है

स्त्रियाँ। आज जब वैश्विक समानता और स्वतंत्र पहचान, दोनों ही राष्ट्र-राज्य के लिए ज़रूरी समस्या बनते जा रहे है तो ऐसे में हिन्दी सिनेमा के इतिहास में आदिवासी स्त्री के चित्रण संबंधी मुद्दों पर बहस ज़रूरी हो जाती है।

यह सोचना महत्वपूर्ण है कि आदिवासी स्त्री सिर्फ कौतुक, अजूबे और अलग पहचान की द्योतक है। हिन्दी सिनेमा उसके रंग-रूप और आरोपित मासूमियत से कभी बाहर निकल पायेगा या आदिवासी स्त्री छोटे, तंग कपडे पहन या फिर वस्त्रहीन नंगे पीठ दिखाती महज बलात्कार की शिकार होने को बाध्य है। आख़िरकार कितने फिल्मकारों ने अपने फिल्मों से आदिवासियों की त्रासदी के विभिन्न संदर्भ दिखाने का साहस दिखाया है। कब तक आदिवासी स्त्री यौन उत्तेजना, लिप्सा को जगाने का ज़रिया बनकर हिन्दी फिल्मों में नज़र आयेंगे। "फिल्मकारों ने नारी समस्या की जड को समझने की कोशिश की। इनका निष्कर्ष था कि नारी के सामने अपनी अस्मिता और स्वतंत्रता का जो सबसे बडा संकट है उसका मूल कारण है उनकी आर्थिक परनिर्भरता, समाज का नारी के प्रति सामंतवादी दृष्टिकोण तथा नारी द्वारा स्वयं को शारीरिक एवं भावात्मक रूप से कमज़ोर समझने की परंपरागत धारणा। अपनी फिल्मों के माध्यम से इन फिल्मकारों ने इस परंपरागत धाराणा को तोडने और बदलने की कोशिश की।"[7]

फिल्मों पर विशेषकर स्त्रियों की चारित्रिक पवित्रता और एकनिष्ठता को भंग करने का आरोप तो शुरुआत से ही लगता रहा है। फिल्में शिक्षा, समझ और संदेश फैलाने का अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी माध्यम है। आदिवासी समाज आज भी पूर्ण साक्षर तक नहीं है। दृश्य माध्यम होने के कारण फिल्म से अनपढ़ व्यक्ति भी फायदा उठा सकता है। इस दिशा में काम तो ज़रूर हुआ है, वह सामाजिक यथार्थ से परे

काल्पनिक अधिक है। उसमें सच्चाई नज़र नहीं आती। इसके पीछे का वजह है कि आदिवासी फिल्में एक तो कम बजट की होती हैं और दूसरे- नामी निर्देशक, सुलझे हुए बडे कलाकार और अभिनेता ऐसी फिल्मों में काम नहीं करना चाहते।

आधुनिक सभ्यता का चकाचौंध में अधिकतर लोग मानने लगे हैं कि जो कुछ भी वनों या पहाडों में है वह पिछडा, जंगली, असभ्य और पशुवत है। इस गलत मानसिकता के कारण वनों में रहनेवाले आदिवासियों के शौर्य, पराक्रम, कला अर्थात उनके संपूर्ण जीवन और व्यक्तित्व को नकारा जा रहा है। इसलिए कोशिश यह होनी चाहिए कि आदिवासियों की भूमिका को ध्यान में रखते हुए ऐसी फिल्में भी बननी चाहिए जिससे आदिवासियों के जीवन, शोषण, संघर्ष, पीडा, वेदना, शौर्य, पराक्रम, कला, अस्मिता की पहचान, अस्तित्व संकट आदि से गैर आदिवासी परिचित हो। इतना ही नहीं उनके गीत, नृत्य आदि का भी प्रदर्शन करें। फिल्मों में आदिवासी जीवन के तीखे अनुभवों को उसी प्रकार प्रस्तुत किया जाय जिस रूप में आदिवासी ने जीया है और झेला है। अतः आदिवासियों द्वारा भोगे हुए खुरदरे यथार्थ की सच्चाई को बिना लाग-लपेट किये फिल्मों मे प्रस्तुत किया जाय। इस प्रकार आदिवासियों पर फिल्में बनेंगी तो आदिवासियों के साथ बडे पर्दे पर कुछ न्याय हो सकेगा।

## 3.2 आदिवासी केन्द्रित पटकथा

पटकथा फिल्म का मूल आधार है। यह फिल्म निर्माण का प्रारूप है। पटकथा के बिना सिनेमा संभव नहीं है। किसी भी विषय में पटकथा लिख सकते हैं लेकिन पटकथाकार को दृश्य-श्रव्य माध्यम के विभिन्न स्तंभों की जानकारी और बारीकियाँ ज़रूर होनी चाहिए। दर्शकों को फिल्म की जो कहानी पता चलती है, वह पटकथा के ज़रिए होता है इसलिए सुव्यवस्थित पटकथा लेखन का महत्व होता है। एक फिल्म की

सफलता- असफलता का फैसला करने में पटकथा अहम भूमिका अदा करती है। कहानी कितनी भी कमज़ोर हो एक अच्छे पटकथाकार उसके हर कमियों को दूर करके प्रभावी पटकथा तैयार करने में माहिर होते हैं। आज के दौर में पटकथा लेखन का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके लिये प्रतिभा के साथ रुचि फिल्मी दुनिया के हर पहलू की जानकारी और जिज्ञासा का होना ज़रूरी है। पटकथाकार की लेखन की अलग शैली होती है। वे फिल्म के लिए लिखते हैं इसलिए लेखन में तकनीकी शैली मौजूद होती है।

पटकथा लेखन आसान कार्य नहीं है उससे भी ज़्यादा मुश्किल साहित्य कृतियों पर पटकथा लिखना है। क्योंकि पटकथाकार को मूल कृति की आत्मा को नष्ट किये बिना पटकथा लिखना पडता है। साहित्य कृति को उसी प्रकार में पटकथा में उतारना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन है। इसके पीछे की वजह यह है कि साहित्य लेखन और पटकथा लेखन में ज़मीन-आसमान का फर्क है। साहित्यकार को किसी नियम या समय की पाबंदी नहीं होती लेकिन पटकथाकार को इतनी छूट नहीं मिलती है कि जो भी मन में आये कागज़ पर लिख डाले। पटकथाकार को निश्चित समय के दायरे में रखकर लेखन करना पडते हैं। पटकथा लेखक को कई बातों पर ध्यान रखना पडते हैं। उनके द्वारा लिखी गयी हर बात को दृश्यों के ज़रिए दर्शकों के सामने आते हैं। इसलिए अपने मनमाने ढंग से पटकथाकार लिख नहीं सकते उन्हें हमेशा दर्शकों के नज़रों से पटकथा को लिखना पडता है।

हिन्दी फिल्मों में आदिवासी जीवन को केन्द्र बनाकर बहुत कम फिल्में ही निकली हैं। इसका मूल कारण है कि आदिवासी मुद्दों को लेने में लोग कतराते हैं। निर्माता और निर्देशक का मुख्य उद्देश्य दर्शकों का मनोरंजन है इसके साथ वे मुनाफा

भी देखते हैं। इसी कारण से कोई निर्माता या निर्देशक आदिवासी विषयों को लेने में दिलचस्पी नहीं दिखाते। अगर कोई आगे आये भी तो उनके लिए प्रतिभाशाली पटकथाकार का मिलना भी ज़रूरी है। अगर पटकथाकार मिले भी तो उन्हें आदिवासी विषयों पर जानकारी होना आवश्यक है। बिना विषय को जाने-पहचाने लिखी गयी पटकथा कमज़ोर नज़र आते हैं। लेकिन जब आदिवासी की बात आती है तो यथार्थ से ज्यादा कल्पना का ही मिश्रण होते हैं। खूनखार जंगलों में रहनेवाले आदिवासियों के पास जाकर उनके यथार्थ जीवन का आँखों देखी सच्चाई को अपने कागज़ पर उतारनेवाले कितने लेखक या पटकथा लेखक तैयार हो सकते हैं। सच तो यह है कि ज्यादातर पटकथाकार उनको मिली कहानी को पढकर अपने प्रतिभा के बलबूते पर पटकथा लिख डालते है इस पर वे ध्यान नहीं देते कि इसमें कितनी सच्चाई है और कितनी फरेब है।

हिन्दी फिल्मों में जितने भी फिल्मों में आदिवासी जीवन को दर्शाया है ज़्यादातर उन्हें मनोरंजन की वस्तू की तरह पेश किया है। आम आदमी शुद्ध मनोरंजन चाहता है, पर बुद्धिजीवि वर्ग उसमें जीवन का यथार्थ चाहता है। वह सिनेमा के माध्यम से अपने समय के समाज को समझना चाहता है। जीवन की असल समस्याओं से रुबरु होना चाहता है। दिक्कत यह है कि हिन्दी फिल्मकारों का सारा ध्यान मुनाफा कमाने और फिल्म बनाने के लिये करोडों रुपयों का जुगाड करने पर होता है। ऐसे में उसका जीवन की समस्या की ओर कैसे जा पाएगा? उसका ध्यान मनोरंजन की ओर ही रहता है। ऐसे में उसमें आदिवासी यथार्थ खोजना बेमानी हो जाता है। हिन्दी सिनेमा में आदिवासी-जीवन के यथार्थ की गैरमौजूदगी की यही वजह रही है।

हमारी सामाजिक संरचना कुछ ऐसी ढंग की है कि आज भी जब आदिवासी शब्द सुनते हैं तो हमारे आँखों के सामने, मन में एक अजीब सी घृणा पैदा हो जाती है। इसका मुख्य कारण है कि महाभारत, रामायण से लेकर फिल्मों ने भी आदिवासी को नकारात्मक ढंग से पेश किया है इसलिए आदिवासी को जंगली, अर्धनग्न, माँसाहारी, मदिरा के लत्ती, धनुषधारी, राक्षस, गरीबी और अभाव की ज़िन्दगी जीनेवालों के रूप में समझते हैं। आज आदिवासी को मनोरंजन के बाज़ार में लाकर खडा कर दिया है। आदिवासियों की यथार्थ जीवन और समस्या को लेकर कोई ठोस फिल्म अभी तक बनी नहीं है।

### 3.2.1 रोटी (1942)

आदिवासियों पर केन्द्रित 'रोटी' फिल्म में पूर्वोत्तर के आदिवासी जीवन का चित्रण शामिल है। मेहबूब द्वारा निर्देशित 'रोटी' फिल्म 1942 प्रदर्शित हुई थी। जिसके पटकथा संवाद वज़ाहत मिर्ज़ा ने किया है। फिल्म में वर्णभेद के साथ ही पूँजीवादी और धन की लालसा के नकारात्मक प्रभाव पर केन्द्रित करके फिल्म बनाई गयी है। "चालीस का दशक एक ओर जहाँ सामाजिक और राष्ट्रीय परिवेशों में परिवर्तन का दशक रहा है। वही भारतीय हिन्दी सिनेमा की शैली, विषयवस्तु और प्रस्तुति पर यह परिवर्तन साफ-साफ झलकता है। हिन्दी सिनेमा पहले की अपेक्षा अधिक रूमानी होता चला गया। यह दशक गीत-संगीत से भरे मनोरंजक फिल्मों की एक अलग शैली की शुरूआत का दशक रहा है।"[8] काल्पनिक पृष्ठभूमि में बनी इस फिल्म में सामाजिक असमानता और पैसों पर आधारित सामाजिक मूल्यों को खूबसूरती से चित्रित किया गया है।

प्रस्तुत फिल्म में एक वक्त की रोटी के लिए दर-दर के टोकरे खानेवाले आम आदमी का मार्मिक चित्रण है। पटकथाकार ने फिल्म का पहला दृश्य फसल, खेती और हरियाली से शुरु किया है। फिर सीधा दृश्य आधुनिक जीवन की ओर ले जाता है। वहाँ ऐश और आराम से जीनेवाले अमीर और उनके जूठन के लिये तरस रहे गरीबों का चित्रण भी देखने को मिलता है। झूठे नाम और फरेब से बिछुडे हुए बेटा कहकर अमीर औरत और उसके पार्टनर को मारकर लक्ष्मीदास नाम से लखपति बन जाते हैं। पार्टनर की बेटी से लक्ष्मीदास का रिश्ता पक्का हो गया था लेकिन अपने पिता के हत्यारे से बदला लेने के प्रण से वो यह नहीं दिखाती है कि अपने पिता के मौत का जिम्मेदार लक्ष्मीदास है। धन की लालसा में लक्ष्मीदास सोने की खदान ढूँढने के लिए हवाई ज़हाज़ में चलता है लेकिन दुर्घटना में जंगल में गिरता है। लक्ष्मीदास और उसके मंगेतर आदिवासियों के बस्ती में पहुँचते हैं। वहाँ दोनों का स्वागत सत्कार होते हैं। आदिवासी दिल खोलकर उन दोनों की सेवा करते हैं। लेकिन लक्ष्मीदास धोखे से आदिवासी युवक बालम के भैसों को लेकर निकल जाती है। सेठ बालम की पत्नी किनारी को इसके बदले सोना देते हैं। अपने भैंस को लेने के लिए बालम और किनारी शहर जाते हैं।

लक्ष्मीदास दोनों को देखकर गुस्सा हो जाता है और घर से निकाल देता है। लेकिन लक्ष्मीदास के मंगेतर के कहने पर बालम को नौकरी पर रखता है। बालम काम करके अपने बेचे हुए भैस को खरीदना चाहता है। वो उसमें कामयाब भी हो जाता है। लेकिन करोडों रुपये कमाने के भूख लक्ष्मीदास को मरवा देता है। साथ ही अपने मंगेतर को भी मौत के मुँह में धकेलते हैं।

प्रस्तुत फिल्म में पटकथाकार यह कहता है कि- पेट भर रोटी भीख माँगने से नही मिलती, मेहनत- मज़दूरी से नहीं मिलती, ज़ुल्म से मिलती है। इसमें सभ्य समाज का चित्रण है। जो गरीबों का फायदा उठाकर करोडों कमाते हैं और उन पर ही जुल्म करते हैं। पटकथाकार ने आदिवासी समाज और सभ्य समाज का पर्दाफाश किया है। आदिवासी समाज मिल जुलकर काम करते हैं और समान रूप से फसल को बाँटते हैं। उनके यहाँ अमीर और गरीब का फर्क नहीं है। आदिवासी किसी को धोखा नहीं देता वह जो मिलता है उससे खुश होते हैं। सभ्य समाज अपनी मुनाफे के लिए किसी को भी मार सकते हैं। उसे सिर्फ, पैसों से प्यार है रिश्ते-नाते उनके लिए कोई मायने नहीं रखते।

यहाँ पटकथाकार ने यह व्यक्त किया है कि वास्तव में शिक्षित-सभ्य समाज कहनेवाले, आधुनिक परिवेश में जीनेवाले लोग ही असल में बर्बर और राक्षस है, जो मतलबी है। आदिवासी भोलेभाले और भले होते है। उन्हें झूठ-फरेब करना नहीं आता वो दिल के साफ-सुथरे है और अपनी संस्कृति और सभ्यता को संजोए हुए जंगल में खुशहाल ज़िन्दगी जीनेवाले है।

फिल्म के ज़रिए आदिवासी समाज का नृत्य और गाने प्रस्तुत किये है जो रोमांटिक नज़रिए से छोटे कपडों में दिल लुभानेवाली तरीके से। फिल्म में आदिवासियों का शोषण, गरीबी, समस्या आदि नज़र नहीं आते बल्कि समृद्ध, खुशहाल आदिवासी समाज का चित्रण प्रस्तुत किया है। असल में पूँजीवाद का विरोध करती फिल्म है लेकिन इसमें आदिवासियों की भूमिका खास नहीं है।

वास्तव में इस भूमि का मूल मालिक आदिवासी है। लेकिन आज का पूँजीवादी युग आदिवासियों की सभ्यता, संस्कृति एवं अस्मिता के लिए खतरा बन

गया है। उनके पास अब वस्त्र नहीं है, भोजन नहीं है, घर नहीं है। यहाँ तक की पानी भी नहीं क्योंकि नदी और नाले तो लोगों ने प्रदूषित किया है।

हिन्दी फिल्मों में आदिवासी जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करनेवाली सिनेमा भी मौजूद है। पूँजीवादियों के शोषण से परेशान आदिवासी समाज अपनी बहु-बेटी की इज़्ज़त और अस्मिता को बचाने के लिये अत्याचारों के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द करते हैं। इससे आदिवासी समाज की वीरता और ताकत का अंदाज़ा लगाया जा सकता है।

### 3.2.2 मृगया (1976)

मृणाल सेन निर्देशित 'मृगया' (6 जून 1976) आज़ादी के पहले के धरातल को दर्शाती फिल्म है। संताल आदिवासी लोक जीवन एवं उपनिवेशवादी शासन के बीच के संपर्क की अलग तरह की गाथा है। आदिवासी समाज का यथार्थ चित्र फिल्म के ज़रिए देख सकते हैं। आदिवासी विषयों को संवेदनशीलता से फिल्माने वाली 'मृगया' फिल्म में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि वास्तविक शिकारी धूर्त साहुकार है। लेकिन जिस तरह भारतीय सामाजिक संरचना रही है उसमें आदिवासी का शोषण उनकी नियति बन गयी है।

सामंतवादी वर्ग के पास घर, वस्त्र और अन्न होते हुए भी ये लोग आदिवासियों के ऊपर ज़बरदस्ती चंदा या कर डाल देते हैं। जब वे चंदा नहीं दे पाते तो उनपर तरह-तरह के अत्याचार करते हैं। यहाँ तक कि माँ-बेटियों तक को नहीं छोडती। उच्च वर्ग के लोग आदिवासी नारियों को भोग की वस्तु समझते हैं। बलात्कार करना तो उनका अधिकार मानते हैं। इनके खिलाफ आवाज़ उठायी तो झूठे

आरोप लगाकर जेल पहूँचाते हैं। पुलिस और सरकार अन्यायियों का साथ देते हैं। अदालत झूठे गवाहों पर विश्वास करके निर्दोष लोगों को सज़ा देते हैं।

प्रस्तुत फिल्म मिथुन चक्रवर्ती और ममता शंकर की पहली फिल्म थी। प्रस्तुत फिल्म के लिए 1977 का फिल्मफेयर अवार्ड मिला और राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार के रूप में स्वर्ण कमल मिला वहीं उत्कृष्ट नायक के रूप में मिथुन चक्रवर्ती को इसी समारोह में रजत कमल से नवाज़ा गया।

प्रस्तुत फिल्म द्वारा आदिवासी समाज की बदहाली को एक कल्पित गाँव के ज़रिए सफलता पूर्वक दिखाया गया है, जहाँ जीवन के तमाम सच्चाईयाँ- शोषण, सूदखोरी, बेकारी, बलात्कार आदि समस्याओं को प्रस्तुत किया है।

### 3.2.3 बैडिंट क्वीन (1994)

शेखर कपूर निर्देशित 'बैडिंट क्वीन'' 1994 में बनी थी। यह फूलन देवी के जीवन के बारे में माला सेन की किताब पर आधारित है। प्रस्तुत फिल्म हिन्दी सिनेमा की चन्द उन फिल्मों में शामिल है, जहाँ स्त्री अपनी असहाय नियति को स्वीकार करने के बदले उसके खिलाफ हिंसक संघर्ष करती है। बाल विवाह के बाद अपने से दुगुने से अधिक उम्र के पति द्वारा शारीरिक ज़्यादतियों का शिकार बनती है। पति से लुटी हुई लडकी अपने गाँव वापस आती है। फिर भी वह अपने पैरों पर खडे होने योग्य होती है तो सवर्णों द्वारा बलात्कार का शिकार भी होती है।

फूलन का दोष इतना भर है कि वह सवर्णों की ज़्यादतियों का, उनकी हवस का शिकार बनने से इनकार करती है। लेकिन वह चाहकर भी खुद को पितृसत्ता,

जातीय हिंसा और शारीरिक हिंसा के तिहरे शोषण से बचा नहीं पाती। डाकुओं के सरदार द्वारा भी बलात्कार का शिकार होना पडता है।

जिन लोगों ने उसकी ज़िन्दगी बर्बाद की उन सबसे चुन-चुनकर बदला लेती है। जब बदले की आग ठंडी हो गयी वह अपने आप को पुलिस के हवाले करते हैं। प्रस्तुत फिल्म में निर्देशक ने बलात्कार, लूटपाट और गोलियों की आवाज़ को ज़्यादा महत्व दिया है। फूलन के परिवार के बारे में ज़्यादा बताया भी नहीं। फूलन देवी का किरदार निभानेवाली सीमा बिश्वास ने बिना कपडे की शॉट भी दी थी और यौन शोषण क्रूरतम रूप में प्रस्तुत किया था। निराशाजनक बात यह है कि फिल्म की लोकप्रियता इसी कारण से हुई। यह सच है कि ऐसे विवादात्मक दृश्यों को देखने के लिये ही लोग सिनेमा देखने जाते हैं। अगर ऐसी चीज़ें ज़्यादा होगी तो दर्शक दूसरे महत्वपूर्ण विषय नहीं देख पाएगा जबकि वे विषय नंगे शारीर से ज्यादा महत्वपूर्ण है।

### 3.2.4 चक्रव्यूह (2012)

आदिवासी समाज की बात करने पर नक्सलवाद की बात करना ज़रूरी है। नक्सलवाद को मुख्य विषय बनाकर प्रकाश झा ने 'चक्रव्यूह' नामक फिल्म 2012 को बनायी। हिन्दी सिनेमा में आदिवासी प्रतिरोध के स्वर उजागर करने वाली फिल्म है। आदिवासी विस्थापन, शोषण, नारी के प्रति अत्याचार, नक्सल के नाम पर मासूम आदिवासी की हत्या, सरकार, नेता और पुलिस द्वारा आदिवासियों पर अत्याचार आदि समस्याओं को प्रकाश झा ने फिल्माया है।

प्रस्तुत फिल्म आदिवासी जीवन से अनिवार्यतः संबद्ध 'नक्सलवाद की पृष्ठभूमि उसके क्षेत्र और कारण पर प्रकाश डालती है। "जहाँ आदिवासियों व

ग्रामीणों का दमन होता है, लेकिन पुलिस एक आई आर दर्ज नहीं करती। अनपद आदिवासियों से रिपोर्ट लिखवाने के लिए रुपये माँगे जाते हैं, जबकि सूख्रदार लोगों के इशारे पर गरीबों को पुलिस उलटी सीधे कैसों में फँस देती है। पुलिस आतंक से परेशान शोषित आदिवासी सत्ता व सुलभ न्याय पाने के लिये माओवादी नक्सलियों के शरण में जाते हैं।"[9]

फिल्म नक्सलवाद के मूल कारण को चित्रित करते हुए बताती है कि नक्सलवाद आदिवासी असंतोष का परिणाम है जो विकास और पुनर्वास के नाम पर चलनेवाली लूट की देन है। नक्सलवाद की जड आदिवासी समस्याएँ हैं जब इसका समाधान होगा तब नक्सलवाद भी अपने आप ख्रत्म होगा। अन्यथा जिस तरह की नीतियाँ बन रही है उसमें तो आदिवासी को ही आदिवासी के ख्रिलाफ ख्रडा कर, उसे उसी के हाथों समाप्त करवाने की साज़िशें तो ज़ारी है ही।

आदिवासियों पर आधारित जो थोडी फिल्में आई भी हैं, तो उन्हें समझने और उनसे ख्रुद को जोडने में दर्शक असमर्थ होते हैं। इस का कारण आदिवासियों की स्थिति और परंपराओं से दर्शक परिचित नहीं है। दर्शक का प्रमुख्र उद्देश्य मनोरंजन है और सच्चाई यही है कि मसाला फिल्में ही बाज़ार में अधिक चलती हैं। कहा जाता है कि सिनेमा समाज का प्रतिबिंब है, ऐसे में लाजिमी हो जाता है कि सिनेमा समाज में मैंजूद हर पक्ष को स्वर देने की कोशिश करें।

हिन्दी फिल्मों में आदिवासी समाज को लेकर ज़्यादातर फिल्में बंजारे जीवन को लेकर प्रस्तुत हुई है। बंजारा जीवन बहुत रंगीन है। उनकी संस्कृति, सभ्यता अन्य आदिवासी समाज से बिल्कुल अलग है। बंजारों का कोई टिकाना नहीं है वे घूमंतू है। उनका जीवन नाच-गानों से युक्त है। हर फिल्मों में कबीले के सरदार की

बेटी या बहनों से शहरी लड़के का प्यार होता है। दुख़ की बात यह है कि हिन्दी समेत अन्य किसी भी क्षेत्रीय भाषा की फीचर फिल्मों में आदिवासी समाज की दुर्दशा का वास्तविक चित्रण देखने को नहीं मिलता है।

बंजारों के जीवन को लेकर की गयी फिल्मों में 'धरम वीर' (1977), 'कारवाँ' (1981), 'तराना' (1979), 'धर्मात्मा' (1975) प्रमुख हैं।

### 3.2.5 धर्मात्मा (1975)

फिरोज़ ख़ान द्वारा निर्मित और निर्देशित 'धर्मात्मा' 1975 के हिन्दी थ्रिलर फिल्म है। पहली बॉलीवुड फिल्म है जो अफगानिस्तान की सुन्दर वादियों में फिल्माया गया था। अफगानिस्तान के आदिवासी कबीलों को सुन्दर ढंग से संजीदगी से प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत फिल्म के मुख्य किरदार प्रेमनाथ ने निभाया है। धर्मात्मा नाम से जानने वाली दयालू गैंगस्टर है जो कई गैर कानूनी काम करता है लेकिन लोगों के लिये वह धर्मात्मा है। वह सबका मदद करता है। उनका बेटा रणबीर अपने पिता के गैर कानूनी काम से नफरत करते हैं और पिता से झगडा करके अफगानिस्तान चला जाता है। वहाँ कबीले की आदिवासी लडकी रेश्मा से प्यार कर बैठता है। अपनी बहन की शादी पर रणबीर घर वापस लौटता है। वहाँ उसके बचपन की सहेली अनु जो रणबीर से प्यार करती है उससे मिलता है। रेश्मा से कबीले के जन्कुरा शादी करना चाहता है और रणबीर के साथ रेश्मा की बढती नज़दीकियाँ उसे बरदाश्त नहीं होता। जन्कूरा सरदार से रेश्मा का हाथ माँगता है लेकिन उसी वक्त रणबीर आकर अपना प्यार का इज़हार करता है। लेकिन कबीले के सरदार कबीले का कानून तोड कर रेश्मा की शादी करवाना नहीं चाहता है। असल में रेश्मा उस कबीले की नहीं है

वह यतीम है। सरदार रेश्मा के ज़िद के आगे मज़बूर होकर मान लेता हैं और शादी के लिए तैयार होते हैं।

दूसरी ओर धर्मात्मा को मारने के लिए दुश्मनों के षड्यंत्र में उनके दामाद भी शामिल होता है। धर्मात्मा के दोस्त के बेटे से अपनी बेटी की शादी करवाता है। असल में दामाद बेईमान है उसे पैसे और लड़की की लत है। वह धर्मात्मा को रास्ते से हटा कर उनके जायदात पर कब्ज़ा करना चाहता है। इसलिए उनके साथ मिलकर अपने ससुर को मार डालता है और रणबीर को भी अपने रास्ते से निकालने के लिए तय करता है। लेकिन बेचारी रेश्मा को इसका शिकार हो जाती है। धर्मात्मा गुंडों के गोलियों से तो बचता है लेकिन उनके दामाद उन्हें मार डालता है। लेकिन सबूत के तौर पर उसकी अंगूठी रणबीर को मिलता है। पोस्टमोरटम रिपोर्ट के अनुसार धर्मात्मा की मौत गला घोंट देने से मालूम पडता है। रणबीर रेश्मा और अपने पिता के हत्यारों को ढूँढने के लिए जी जान लगाते हैं।

रणबीर को जब सच्चाई पता चलता है तो सबसे चुन-चुन कर बदला लेता है। रणबीर को जब यह राज़ पता चलता है कि वह अंगूठी उसके बहन ने कुन्दन को दिया था। अपनी बहन को विधवा न बनाये इसलिए वह कुन्दन को माफ कर देता है लेकिन कुन्दन अपनी पत्नी को भी मार डालता है तो रणबीर कुन्दन को जान से मार डालता है। रणबीर अपने पिता का धन-दौलत सब कुछ पुलिस के हवाले करता है और अपनी माँ और अनु को लेकर अफ्गानिस्तान लौट जाता है।

प्रस्तुत फिल्म दर्शकों को मनोरंजन करने के सारे रस भरे पडे हैं। इसमें प्यार, संघर्ष, ज़ुल्म सभी पर प्रकाश डाला गया है। समाज के काले धन्धे करनेवालों का अंत बुरा ही होता है इसको ज़ाहिर किया है। फिल्म के पहले भाग में ही आदिवासी

समाज को दिखाया है। हर फिल्म के तरह शहरी लडके और आदिवासी लडकियों की प्रेम कहानी और इसके बीच होनेवाले संघर्ष को चित्रित किया है। फिल्म में भी आदिवासी लडकी सौन्दर्य या नुमाइश की वस्तू है। आदिवासी समाज को खूबसूरती से फिल्माया गया है।

### 3.2.6 धरम वीर (1977)

मनमोहन देसाई निर्देशित 'धरम वीर' 1977 में प्रदर्शित हुआ है। धर्मेन्द्र, जितेन्द्र, ज़ीनत अमन और नीतू सिन्हा ने मुख्य भूमिका अदा की है। राजकुमारी मीनाक्षी के भाई सतपाल अपने बहन को इसलिए मारना चाहता है कि भविष्य वाणी के अनुसार सतपाल की मृत्यु उनके बडे भतीजे के हाथों होगा। शिकार पर निकली मीनाक्षी को सतपाल मारने के लिये गुंडों को भेजता है लेकिन जंगल के शिकारी ज्वाला सिंह उसे बचाता है। मीनाक्षी जान बचाने के बदले कुछ भी माँगों देने केलिए ऐसा वादा करती है। ज्वाला सिंह बरसों से मीनाक्षी को प्यार करता है और उसकी मूर्ति बनाकर देवी की तरह पूजा करते हैं। राजकुमारी ज्वाला सिंह से गंधर्व विवाह करती है। जिस चीते का शिकार वह करती है उसके जोडे बदला लेने के लिए आता है। सुहाग रात को ही ज्वाला सिंह को चीते के साथ लडना पडता है और ज़ख्मी होकर पहाड से नीचे गिरता है। राजकुमारी अजनबी की लाश देखकर धोखा खा जाती है और राजमहल लौट जाती है। लेकिन पति की मौत की सदमा राजकुमारी को निर्जीव बनाती है। उनकी शादी करवाती है। अपने पति से मीनाक्षी सब कुछ बताती है। फिर भी महाराज उसे अपना लेता है। उसके कोख में पलने वाले बच्चे को अपना नाम भी देता है। बहन को मारने की सज़िश रचने के कारण सतपाल को राज घर से निकालते हैं। वह पत्नी समेत मीनाक्षी के पास आता है और माफी

माँगता है। मीनाक्षी की भाभी भी माँ बनने वाली है। वह अपने भाई और भाभी को खुशी से स्वागत करती है। मीनाक्षी का पति युद्ध में मर जाता है। उसे जुडवा बच्चा पैदा होते हैं। सतपाल बडे बेटे को महल से नीचे फेकता है। मगर ज्वाला सिंह के परिन्दे बच्चे को बचाता है और लोहार की कुटिया में ले जाता है। वही ज्वाला सिंह ज़ख्मी पडा था। मीनाक्षी को ढूँढका हुआ ज्वाला सिंह राजमहल पहूँचता है तो बच्चे के साथ देखता है। वह सोचता है कि राजकुमारी ने उसे धोखा दे कर दूसरा विवाह किया है। वह मीनाक्षी से मिले बिना ही लौट जाता है।

राजकुमार बडे हो जाते हैं एक लोहार के घर में और दूसरा राजमहल में रहते हैं। लेकिन दोनों जिगरी दोस्त बनते हैं। लोहार के घर पले धरम राजकुमारी से प्यार करता है और वीर बंजारे लडकी से प्यार करता है। सतपाल को जब पता चलता है कि धरम उसका बडा भतीजा है वह उसे मारने का षड्यंत्र रचता है। राजकुमारी पल्लवी के भाई और मंगेतर, कबीले के सरदार जो रूपा से शादी करना चाहता है सतपाल के साथ हाथ मिलाते हैं। लडाई में सच्चाई की जीत होती है। लेकिन धरम और वीर के पिता लडाई में मर जाते हैं। महारानी मीनाक्षी अपने बेटे और बहुओं के साथ राजमहल जाती है।

फिल्म को निर्देशक ने खुबसूरती से फिल्माया है। फिल्म में दोस्ती, प्रेम, आपसी रंजिश, संघर्ष, लडाई, नाच-गाना आदि प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। फिल्म में बंजारे समाज की भूमिका को उतना महत्व नहीं दिया है। राजकुमार वीर के प्रेमिका को दिखाने के लिए बंजारे समाज का इस्तेमाल किया है। हर फिल्म के तरह आदिवासी लडकी पर बाहर के लडकों द्वारा इश्क फरमाना, कबीले के सरदार द्वारा इन्कार करना, इसके खिलाफ संघर्ष आदि को दिखाया है। फिल्म को प्रभावी ढंग से

प्रस्तुत किया है। हर किरदार ने अपनी भूमिका बढिया तरीके से निभाई हैं। फिल्म के गाने भी सुन्दर हैं। बंजारा जन जीवन में नग्मों एवं रंगों का महत्व है। संगीत उनके जीवन की धरोहर है और रोज़ी- रोटी के लिये घूमन्तू जीवन अपनाया है। अपनी अनोखी वेशभूषा और रंगरूप के कारण आज भी बंजारे अपने अस्तित्व को अनेक जातियों से पृथक घोषित करते हैं। भारतीय लोकगीत और लोककथाओं में बंजारा अपने बैलों पर दूर-दूर तक सामान लादकर ले जानेवाला समाज है।

### 3.2.7 कारवाँ (1981)

नसीर हुसैन की फिल्म 'कारवाँ' 1981 में प्रदर्शित हुआ। जितेन्द्र और आशा परेख ने मुख्य किरदार निभाये हैं। फिल्म बंजारे जीवन के माहौल में फिल्माया गया है। सुनीता मुंबई की बहुत बडे मिल मालिक की इकलौती बेटी है। उसके पिता ने अपने दोस्त की मृत्यू के बाद उनके बेटे को पढा-लिखाकर इस कदर काबिल बनाया कि अपने ही मिल का मानैजर बना लिया। असल में राजन ईमान्दार नहीं था उसने तीन लाख की चोरी का सुनीता के पिता को इस बात का पता चला तो गुस्सा होता है और रुपया लौटाने को कहता है नहीं तो पुलिस से पकडवाने की बात करता है। राजन सुनीता के पिता की हत्या करता है। पिता के मौत के सदमे में पडे सुनीता से जायदात हडपने के लिये राजन शादी करता है। शादी के बाद राजन की प्रेमिका से सुनीता को सच पता चलता है। वह राजन से बच निकलता है लेकिन राजन गाडी का ब्रेक निकाल देता है। सुनीता कार दुर्घटना में पडती है लेकिन बच जाती है। अपने पिता की मौत के ज़िम्मेदार राजन को सज़ा दिलाने के लिए वह सबूत के लिये राजन की मेहबूबा मोनिका से मिलने का निर्णय लेती है। लेकिन राजन के गुंडे चारों ओर सुनीता को ढूँढने के लिये तैनात किया था।

सुनीता मोहन की गाडी में मोनिका से मिलने मुंबई पहूँचती है लेकिन वहाँ जाकर उसे पता चलता है कि मोनिका राजन के साथ मिली हुई है। सुनीता वहाँ से भाग निकलती है और मोहन की गाडी में चढ जाती है। मोहन अपने दोस्त और छोटे भाई के साथ रहते हैं। मोहन बंजारे समाज के साथ नोटंगी करके जी रहा है। सुनीता उनके साथ रहकर अपने पिता के कातिलों को सज़ा दिलवाना चाहती है। बंजारे लडकी जो वहीं की बेहतरीन नाचनेवाली निषा मोहन से प्यार करती है। लेकिन मोहन सुनीता से प्यार करने लगता है और उसकी सच्चाई जानकर उसकी मदद करता है। सुनीता राजन से बदला लेती है लेकिन इसी बीच निषा की जान चली जाती है। सुनीता अपने जायदात और एशो आराम की ज़िन्दगी छोडकर मोहन के साथ बंजारों के समाज में जाती है।

प्रस्तुत फिल्म बंजारों के इर्द गिर्द घूमती है और बंजारों की नाच-गानों को ज़्यादा महत्व दिया है। फिल्म को रंगीन बनाने के लिए बंजारे समाज को प्रस्तुत किया है। फिल्म प्यार, संघर्ष, षड्यंत्र आदि से गुज़रते हैं।

### 3.2.8 तराना (1979)

दीपक बाहरी द्वारा निर्देशित 'तराना' फिल्म 1979 में प्रदर्शित हुई। इसके मुख्य अभिनेता मिथुन चक्रवर्ती और रंजीता है। प्रस्तुत फिल्म बंजारे जीवन पर आधारित प्रेम कहानी है। फिल्म की शुरूआत मेले से होता है। ठाकुर रतन सिंह और दोस्त परिवार समेत मेले के दिन मन्दिर आते हैं। वहाँ दोनों अपने बच्चों का रिश्ता पक्का करते हैं जो बच्चे हैं। मेले से लौटते वक्त तेज़ बारिश और तूफान में उनके कश्ती डूब जाती है। ठाकुर के दोस्त और पत्नी मर जाते है लेकिन उनका बेटा बच जाता है लेकिन ठाकुर की बेटी नदी में बह जाती है। ठाकुर बेटी की मौत के

गम में जीते हैं और दोस्त के बेटे श्याम को अपने बच्चे की तरह पालते हैं। ठाकुर की बेटी राधा को नदी किनारे से एक बंजारे को मिलता है जो अपनी पत्नी की मौत के दुख में जी रहा था। वह दूसरी शादी नहीं करती और ठाकुर की बेटी को अपनी बेटी की तरह देखभाल करती हैं। उसका नाम रानी रख देती है। समय बीत गया श्याम और राधा जवान हो जाते हैं।

राधा बंजारे समाज के साथ पली बढी थी इसलिए लोगों के मनोरंजन के लिये नाच-गाना प्रस्तुत करके खुशी से रहती थी। अपने पिता के गाँव में उनके ज़मीन पर ही तंबू लगाकर वह रहने लगी। राधा का गाना सुनकर श्याम उस पर फिदा होता है। दोनों प्रेम करने लगते हैं। बेटी का रिश्ता पक्का करने के लिये बंजारा ठाकुर की हवेली जाता है लेकिन ठाकुर उसे बेइज़्ज़त करके बाहर निकालता है और अपने ज़मीन से निकल जाने के लिए भी कहता है। ठाकुर श्याम को बताता है कि रानी की बाबा शादी के लिये तैयार नहीं है इसलिए वे लोग गाँव छोडकर चले गये। श्याम को बाद में पता चलता है कि ठाकुर ने ही उन्हें यहाँ से भगाया था। वह अपनी राधा को ढूँढने बंजारे के बेस में निकलता है और उसे ढूँढ लेता है। बंजारे समाज का युवक जागिरा रानी से शादी करना चाहता है। वह ठाकुर के पास जाकर बताता है कि उनके सरदार अपनी बेटी की शादी श्याम से करवा रहा है। ठाकुर बदले के आग में गुंडों को लेकर पहूँचता है अंत में उसे पता चलता है कि रानी ही उसकी बेटी राधा है। बंजारा रानी को अपने असली माता-पिता को सौंपकर अपने समाज में लौट जाता है।

प्रस्तुत फिल्म में आदिवासी को रोमांटिक तरीके से ही प्रस्तुत किया है। प्रेम पर आधारित सुन्दर फिल्म है जिसमें गानों की बहाव है। बंजारे समाज या उनकी

समस्याओं का चित्रण नहीं हैं। नाच-गाना पेश करके ख़ुशी से जीवन बिताने वाले समाज का चित्र उभर कर आते हैं। गरीबी, शोषण, किसी भी तरह की परेशानियाँ नज़र नहीं आते बल्कि बिन्दाज़ जीनेवाले ख़ुशहाल आदिवासी समाज को ही देख़ पाते हैं। फिल्म देख़कर यह पता चलता है कि आदिवासी समाज को मनोरंजन के लिये ही प्रस्तुत किया है उसके उद्धार के लिये नहीं है।

### 3.2.9 नागिन (1954)

महेन्द्र शाह द्वारा निर्मित 'नागिन' फिल्म 1954 में प्रदर्शित है। जिसका निर्देशन नंदलाल जसवंतल ने किया है। प्रस्तुत फिल्म नागी आदिवासी पर केन्द्रित है। नागी आदिवासी और रागी आदिवासी की आपसी रंजिश को बेहद संजीदगी से फिल्माया गया है। दोनों आदिवासी समाज नाग का विष बेच कर अपना जीवन बिताते हैं। लेकिन नागी धोख़े से रागी समुदाय के विष हासिल करते हैं। नागी सरदार की बेटी रागी सरदार के बेटे से बदला लेने के लिए जाती है लेकिन सनातन के बीन बजाना सुनकर माला मुग्ध हो जाती है और सनातन से प्रेम कर बैठती है।

नागी सरदार अपनी बेटी की शादी दोस्त के बेटे से करने का वादा कर बैठता है। उसके आने से दोनों आदिवासी समुदायों के बीच का रंजिश और भी बढ जाता है। नागी सरदार माला को लेकर शहर चले जाते है और ज़बरदस्ती उसकी शादी करवाना चाहता है। सनातन भी अपने पिता के कैद से बचकर शहर चला जाता है। वह बीन बजाकर माला को ढूँढने निकलता है लेकिन थियेटरवाले सनातन से ख़ुश हो जाते हैं और उसे अपने नाटक कंपनी में ले जाते हैं। सनातन बीन बजाने के लिए तैयार होते हैं लेकिन नाचने के लिये जंगल की लडकी की माँग करता है। पैसे की लालच में माले के मंगेतर माला को नाटक मंडली में भेजते हैं। सनातन और

माला मिलते हैं और दोनों वहाँ से भाग जाते हैं। सनातन की जान बचाने के लिये माला विषैली साँप से लडती है और नाग उसे काटता है। सनातन अपने प्रेम की ताकत से बीन बजाकर उसी साँप से विष वापस लेने पर माला जीवित होती है और नागी सरदार दोनों के प्यार को समझता है और उन्हें स्वीकार करते हैं।

फिल्म में नागी समुदाय का चित्रण है जो अपनी आदिमता और जीवन व्यवहार की वजह से जंगलों में रह रहे हैं। फिल्म के हर गाने सूपरहिट रहे और बेहद मार्मिक ढंग से प्रेम को प्रस्तुत किया है। वैजयंतीमाला और प्रदीप कुमार ने अपने किरदार को बखूबी से निभाया है। आदिवासी समाज के आपसी रंजिश को केन्द्र में रखकर बेहद खुबसूरत प्रेम कहानी प्रस्तुत करने में पटकथाकार सफल हुए है। लेकिन इस फिल्म में भी काल्पनिकता ही अधिक है। फिल्म के पात्र मिथकीय दुनिया में जीकर भी कालाजयी बन गए। फिल्म की शुरुआत में ही कहते है कि फिल्म देखकर किसी पुरानी जाति की याद दिलाते है तो वो सिर्फ स्वाभाविक है। फिल्म पूरी तरह दर्शक को मनोरंजन करने में सफल हुयी है लेकिन आदिवासी समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में असफल हुयी है।

### 3.2.10 बरसात (1949)

1949 में प्रदर्शित 'बरसात' फिल्म का निर्माण और निर्देशन राजकपूर ने किया है। प्राण और गोपाल शहरी लड़के हैं जो छुट्टी मनाने के लिए पहाडी इलाके में आते हैं। दोनों पहाडी लडकियों से प्रेम करने लगते हैं। प्राण रेश्मा से दिल से प्यार करता है बल्कि गोपाल नीला से प्यार का नाटक करके उसकी इज़्ज़त लूटता है। रेश्मा की शादी किसी ओर से पक्की करती है। उसके पिता को परदेसी बाबुओं से सख्त नफरत है। इसलिए प्राण के साथ रेश्मा के रिश्ते से इन्कार करते हैं। लेकिन

रेश्मा अपने को रोक नहीं सकी वह प्राण के पास जाती है। रस्सी पकड कर नदी के उस पार जाती है लेकिन पिता अपने इज़्ज़त बचाने के लिए रस्सी काट देते हैं और रेश्मा बह जाती है। प्राण उसकी गम में दिन काटते हैं और रेश्मा बहकर मछुवारे के यहाँ पहूँचती है। मछुवारा उसकी ज़िन्दगी बचाता है उसके बदले में वह रेश्मा से शादी करना चाहता है।

दोनों प्यार में तडप कर जीते हैं और मौत के मुँह में पडे प्राण को अपनी प्रेम की शक्ति से ज़िन्दा करवाती है। उनके प्यार देख्रकर गोपाल को अपने किये पर पछतावा होता है और नीला को अपनाने के लिए वापस आता है। लेकिन गोपाल के साथ रेश्मा को देख्र कर नीला गलतफहमी में ज़हर पीकर आत्महत्या कर लेती है।

फिल्म में पहाडी आदिवासी स्त्रियों की प्रेम कथा को फिल्माया है। परदेसी बाबुओं द्वारा प्यार के जाल में फँसाकर ज़िन्दगी बर्बाद करनेवाली मासूम लडकियों का चित्रण किया गया है। आदिवासी लडकियाँ सुन्दरता और नुमाइश का साधन मात्र बनकर फिल्म में रह जाती हैं। रामानंद सागर ने कथा, पटकथा और संवाद लिख्रे है। जो सशक्त और ख्रुबसूरत तरीके से राजकपूर ने फिल्माया है। सच्चे प्रेम की हमेशा जीत होती है यही दिख्राने की कोशिश की गयी है। आदिवासी लडकियों को मासूम और भोलेभाले रूप में चित्रित किया है। यह फिल्म भी आदिवासी समाज की सच्चाई से दूर है। फिल्म में प्रेम दिख्राने का ज़रिया मात्र है आदिवासी लडकी। उसकी समाज या परिवेश को प्रस्तुत करना फिल्म का उद्देश्य नहीं है। यह फिल्म भी दर्शक के मनोरंजन के लिए बनायी गयी है न कि आदिवासी समस्या को उजागर करने के लिये बनायी है।

### 3.2.11 इज्ज़त (1968)

1968 में प्रदार्शित 'इज्ज़त' टी. प्रकाश राज के द्वारा निर्देशित फिल्म है। प्रस्तुत फिल्म का नायक शेखर आदिवासी है जो पढे- लिखे नौजवान है। कॉलेज की पढाई पूरी करके गाँव वापस आने पर उसे अपनी माँ की मृत्यू के बारे में पता चलता है। गिरिजाघर के पादरी से उसे पता चलता है कि उसका पिता एक ज़मीन्दार है। जिसने गर्भवती बनाकर अपनी माँ को छोड दिया था। पिता से बदला लेने के लिए वह ठाकुर के घर पहूँचता है और उसे पता चलता है कि उसका एक भाई और बहन है। भाई उसका हमशकल है। वहाँ घटित घटनाओं द्वारा फिल्म आगे बढ़ती हैं।

शेखर का भाई दिलीप का आदिवासी लडकी के साथ इश्क लडाने और अपने पिता द्वारा पसंद की गयी लडकी को देखने के लिए ज़बरदस्ती शेखर को वहाँ भेजता है। लडकी और घरवालों को शेखर पसंद आते है लेकिन शेखर उसे धोखा देना नहीं चाहता इसलिए वापस चला आता है। अपने बेटे की शादी आदिवासी लडकी से करवाने के लिए ठाकुर राज़ी नहीं होते। वह उस लड़की पर अत्याचार करना चाहता है। ठाकुर की असलियत जानकर आदिवासी लोग उसके मिल जलाने आते हैं तो शेखर जान पर खेलकर अपने पिता को बचाता है। ठाकुर अपनी गलती कबूल करता है और शेखर को स्वीकार करता है। दिलीप की शादी आदिवासी लडकी से करवाता है।

फिल्म की शुरुआत ज़बरदस्त थी लेकिन वह बहाव अंत तक ले जाने में कामयाब नहीं हुए। आदिवासी समाज और उनकी समस्याओं को अनदेखा करके मनोरंजन को ही प्रमुखता दिया है। आदिवासी स्त्री पर हुए अत्याचार को प्रमुखता देकर सभ्य समाज द्वारा आदिवासियों पर होनेवाले अन्याय, शोषण आदि का मार्मिक

चित्रण कर सकते थे लेकिन फिल्म में वही रोमांटिक नज़रिया आदिवासी के ऊपर रखा है। पटकथाकार ने आदिवासी नायक को काला बनाकर यह साबित किया है कि दलित और आदिवासी हमेशा काले होते हैं। ऊँची जाति के लोग ही श्वेत रंग के हो संकते है। उनके सवर्ण मानसिकता ही यहाँ दिखाई देती हैं।

प्रस्तुत फिल्म आदिवासी जीवन यथार्थ से कोसों दूर है। कल्पना से ओतप्रोत फिल्म में आदिवासी को छोटे कपडों में नाच-गाना प्रस्तुत करने के लिए ही रखा है। उसका अस्तित्व या अस्मिता को दिखाने के लिए नहीं। ज़मीन्दार और साहूकार आदिवासियों पर जो अत्याचार और शोषण करते हैं इस पर पटकथाकार की नज़र गयी ही नहीं। उन्हें तो सिर्फ मनोरंजन ही प्रमुख लगा है।

हिन्दी फिल्मों में आदिवासी जीवन को रोमांटिक तरीके से ही ज्यादातर फिल्माया गया है। कुछ ऐसी फिल्में भी बनी है जो पुनर्जन्म पर आधारित हैं। ज़मीन्दार के शोषण द्वारा मरनेवाली आदिवासी लडकियाँ अपने प्रेम को पाने के लिए और अपनी मौत का बदला लेने के लिए पुनर्जन्म लेती हैं। हिन्दी फिल्मों में इस तरह की कहानियों का बहाव देख सकते हैं। इसमें 'कुदरत' (1981), 'जनम-जनम' (1988), 'मधुमती' (1958), 'मेहबूबा' (1976) आदि प्रमुख हैं।

### 3.2.11 कुदरत (1981)

चेतन आनंद द्वारा निर्देशित फिल्म 'कुदरत' 1981 में प्रदर्शित हुआ है। यह पुनर्जन्म पर आधारित है। फिल्म में राजेश खन्ना, हेमा मालिनी, विनोद खन्ना और राज कुमार ने मुख्य भूमिका निभायी है। फिल्म षिम्ला के खूबसूरत वादियों में फिल्माया गया है। सुपरहिट गानों से फिल्म और भी सुन्दर और प्रभावी बनता है।

मुंबई से बरसों बाद अपने माता-पिता के साथ छुट्टी मनाने के लिए चन्द्रमुखी षिम्ला आती है। वह पहली बार षिम्ला आ रही है। अपनी माँ की बचपन की सहेली और उनके बेटे डॉ. नरेश जो मनोचिकित्सक है उनसे मुलाकात होती है। दोनों परिवार वाले नरेश और चन्द्रमुखी का रिश्ता तय करना चाहता है लेकिन नरेश की हवेली पहूँचते ही चन्द्रमुखी को सब कुछ जाना-पहचाना सा लगती है और वह पुरानी यादों से परेशान हो जाती है। बार-बार एक ही सपना उसको आती है कि वह किसी माधो को पुकार के पीछे भागती है और खाई में गिर जाती है।

दूसरी ओर षिम्ला की रईस ठाकुर जनक सिंह अपनी बेटी करुणा के साथ हवेली में रहता है। करुणा वकील है और अपने पिता के दोस्त के बेटे मोहन कपूर जिसका परवरिश ठाकुर ने किया था। विलायत से वकील की पढाई पूरा करके षिम्ला वापस लौटता है। करुणा मोहन से प्यार करती है। चन्द्रमुखी मोहन से जब मिलती है तो उसे जाना-पहचाना लगती है। नरेश को हिपनोटिसम के ज़रिए यह पता चलता है कि चन्द्रमुखी को पिछले जन्म की यादें सताती हैं। पिछले जन्म में मोहन और चन्द्रमुखी मंगेतर थे। किसी कारण से वे एक नहीं हो सके दोनों की मौत होती है। मोहन करुणा से सगाई करने से इन्कार करता है। मोहन चन्द्रमुखी से प्यार करने लगता है। ठाकुर पार्टी में मोहन के साथ करुणा की सगाई का ऐलान करना चाहता है। लेकिन करुणा डॉ. नरेश और चन्द्रमुखी को पार्टी में बुलायी थी। ठाकुर को देखते ही चन्द्रमुखी पार्टी से चिल्लाकर भाग जाती है। नरेश और मोहन फिर से चन्द्रमुखी को हिपनोटिसम करते हैं और सच्चाई का पता लगाना चाहते हैं। चन्द्रमुखी के पिता हबेली का माली है और माधों की बहन सत्तो उसकी दोस्त है।

एक तूफानी रात को ठाकुर द्वारा चन्द्रमुखी का बलात्कार होता है। माधो बदले की आग में ठाकुर को मारने के लिए जाती है लेकिन नदी में गिर कर मर जाती है। लेकिन चन्द्रमुखी का पिछले जन्म में क्या हुआ कुछ याद नहीं आती। उसकी खूनी के तलाश में मोहन और नरेश निकलते हैं। माधो की बहन से यह पता चलता है कि पिछले जन्म का छोटे सरकार ठाकुर जनक सिंह है। चन्द्रमुखी को हवेली याद आती है वहाँ पारो के पिताजी माली के रूप में मिलता है। चन्द्रमुखी माली को पहचानती है और बाबा कहकर जाती है। मोहन को पता लगता है कि चन्द्रमुखी के मौत की पीछे ठाकुर का हाथ था। नरेश ठाकुर के खिलाफ मुकदमा लडने के लिए कहते हैं लेकिन ठाकुर के अहसान तले मजबूर मोहन इसके लिए राजी नहीं होता लेकिन चन्द्रमुखी की प्यार का वास्ता दे कर नरेश मुकदमे के लिए मोहन को मजबूर करता है। करुणा झूठी गवाहों के द्वारा अपने पिता को बचाने की कोशिश करती है। अंत में करुणा को सच्चाई पता चलता है कि उसके पिता ने ही चन्द्रमुखी को मार कर दीवार के नीचे छिपाया था।

करुणा को अपने पिता को बचाने का कोई ओर रास्ता नहीं मिलता इसलिए सबूत मिटाने के लिये करुणा हवेली को जला देती है और खुद आग में पडकर मर जाती है। मोहन अपना केस वापस लेता है लेकिन ठाकुर अदालत के सामने अपने जुर्म का कबूल करता है। सबूत मिटाने के लिए अपने ही बेटी की ज़िन्दगी राख हो गयी इसके लिए ठाकुर खुद को कसूरवार मानता है और खुशी से जेल जाता है।

प्रस्तुत फिल्म में पहाडी आदिवासी लडकी की ज़िन्दगी फ्लैशबैक में कहती है। पुनर्जन्म के ज़रिए मार्मिक प्रेम कहानी बताने में निर्देशक सफल हुआ है। पारो और माधो द्वारा आदिवासी समाज को दिखाने का कोशिश प्रस्तुत फिल्म में भी नहीं

दिखायी देती है। उन्हें सिर्फ प्रेम प्रसंग के लिए चुना गया है। उनके आपसी प्यार को सुन्दर गानों से सशक्त बनाने में फिल्म सफल हुआ है। फिल्म बहुत रोचक और प्रभावी है। षिम्ला की सुन्दर वादियाँ और सुपरहिट गाने फिल्म की ख़ासियत है। आदिवासी लडकी सिर्फ कहानी आगे बढाने की वस्तू मात्र बनकर रह गयी। अन्य फिल्मों की तरह इसमें भी आदिवासी समाज गायब है।

### 3.2.13 जनम जनम (1988)

विजय सदानाह की फिल्म 'जनम जनम' 1988 में प्रदर्शित हुआ। ऋषि कपूर, विनीता घोयल, डानी और अमरीश पुरी ने मुख्य फिरदार निभाये हैं। फिल्म शहरी लडका सुनील जो आरकिटेक्ट है राजगढ के पुरानी हवेली को फैव स्टार होटल बनाने के लिये पहूँचता है। राजगढ पहूँच कर उसे अपना पिछला जन्म याद आता है। पिछले जनम में वह राजगढ का रैंजर अफसर था। पहली नज़र में ही उसे आदिवासी कबीले के सरदार की बहन चन्द्रमुखी से प्यार होता है। सरदार राजगढ वालों से सख्त नफरत करता था। राजगढ के ठाकुर बलबीर सिंह ने अंग्रेज़ों को पैसा देकर आदिवासियों के ज़मीन पर कब्जा किया था और सरदार के पिता को मौत के घाट उतार दिया था। इसलिए सरदार राजगढ वालों से किसी भी तरह का संबंध रखना नहीं चाहता है। विनय को राजगढ पहूंचते ही समझ जाता है कि वहाँ ठाकुर का राज चलता है। सरकारी जंगलों से पेड काटने के लिए वह अफसरों को रिश्वत देता है और उनके खिलाफ आवाज़ उठाने वालों को वे मार डालते हैं। पुलिस, जंगल के अफसर सब ठाकुर के उँगलियों पर नाचते हैं। लेकिन विनय एक ईमान्दार अफसर था वह ठाकुर के खिलाफ सबूत इकट्टा करने में लगे रहे।

चन्द्रमुखी और विनय एक दूसरे से इतना प्यार करने लगे कि एक दिन भी बिना देखे उन्हें चैन नहीं मिलता है। सरदार को इन बातों का पता चलता है तो वह राज़ी नहीं होता लेकिन दोनों का सच्चा प्रेम उनकी आँखें खोल देता है। अपनी बहन की शादी के लिये वे मान लेते हैं। ठाकुर चन्द्रमुखी को देखकर मुग्ध हो जाता है और उसे अपने हवस का शिकार बनाने के लिये षडयंत्र रचते हैं। विनय को राजगढ़ से तबादला करवाता है और उसे मज़बूरन शहर जाना पडता है। सरदार चन्द्रमुखी की शादी के लिए शगुन खरीदने के लिए शहर जाते हैं। उसी दिन आदिवासी इलाके के लडके जो चन्द्रमुखी से शादी करना चाहता है उसे झूठे सपने दिखा कर चन्द्रमुखी को घर से उठाकर लेने में ठाकुर के लोगों की सहायता करता है। वह सोचता है कि ठाकुर चन्द्रमुखी के साथ उसकी शादी करवायेगा लेकिन ठाकुर के गुंडे उसे मार डालते है। चन्द्रमुखी अपनी इज़्ज़त बचाने के लिए हवेली के ऊपरी मंजिल से कूद कर जान देती है। शहर से वापस आने पर सरदार और विनय को सच्चाई मालूम हो जाती है। विनय ठाकुर को मारने के लिए हवेली जाता है लेकिन ठाकुर के आदमी बेरहमी से उसे मारता है। सरदार अपने जान पर खेलकर विनय को बचाता है और मर जाता है।

अस्पताल में पडे विनय को जब होश आता है तो नर्स के रूप में चन्द्रमुखी को देख कर खुश हो जाता है। लेकिन वह बिल्कुल चन्द्रमुखी की हमशकल थी। नर्स आशा की सहायता से विनय ठाकुर से अपने जुर्म कुबूल करवाना चाहता है। इसके लिए पुलिस की मदद भी लेता है। लेकिन चन्दा की आत्मा ही ठाकुर को डराकर अपना जुर्म कुबूल करवाता है। पुलिस से बचकर भागते समय फानूस गिर

कर ठाकुर मर जाता है। विनय चन्दा की गानें सुनकर उसके पीछे चला जाता है और हवेली से नीचे कूद कर अपना जान गवा देता है।

सुनील जब अपने माता-पिता के कहने पर लडकी को देख्रने के लिए चला जाता है तो लडकी देख्र कर सुनील चौक जाता है संध्या बिल्कुल चन्दा की हमशकल थी। वह शादी के लिए राज़ी होता है और पुनर्जन्म में उन प्रेमियों का मिलन होता है।

प्रस्तुत फिल्म में प्रेम कहानी की माध्यम से ज़मीन्दार और आदिवासी लोगों के बीच के आपसी संघर्ष को दिख्राने का प्रयास किया है। ठाकुर द्वारा आदिवासी की जंगल, ज़मीन और लडकियों के शोषण को दिख्राया है। फिल्म में आदिवासियों से ज़्यादा प्रेम को उजागर करने की कोशिश को ही प्रमुख्रता दी है। फिल्म के गाने ख्रूबसूरती से निर्देशक ने फिल्माया है। आदिवासी समाज की गरीबी, अभाव आदि देख्रने को नहीं मिलते हैं। आदिवासी लड़की को रोमांटिक नज़रिये से दिख्रायी गयी है। आदिवासी जीवन के यथार्थ से ज़्यादा काल्पनिकता से ज़्यादा नज़दीक है प्रस्तुत फिल्म।

### 3.2.14 महबूबा (1976)

शक्ति सामंत की पुनर्जन्म पर आधारित फिल्म है 'महबूबा' जो 1976 में प्रदर्शित हुई। इसके मुख्य अभिनेता राजेश ख्रन्ना और हेमा मालिनी है। सूरज मंबई का बहुत बडा गायक है। उसके मंगेतर के पिता ने तौफे के रूप में राज नर्तकी रत्ना की तानपुरा देता है। उसे पकडते ही सूरज को किसी लडकी गाना गाते सुनाई देता है। वह षो के लिए जयपुर निकलता है लेकिन तूफान के कारण उसे चन्दनगढ रूकना

पडा। रात गुज़ारने के लिए पास के हवेली में जाता है। वहाँ सूरज की मुलाकात रत्ना से होती है। उसकी गायकी से आकर्षित होकर उसके पीछे जाता है और एक महल में पहूँचता है। वहाँ से सूरज को पिछले जन्म की याद ताज़ा हो जाता है। वह महल के राज गायक और रत्ना राज नर्तकी थी। दोनों एक दूसरे को बेहद मोहब्बत करते थे। रत्ना एक तवायफ की बेटी है लेकिन उस्ताद ने अपनी बेटी की तरह रत्ना को नाचना सिख्राया। रत्ना की सच्चाई जान कर भी प्रकाश उससे शादी करने के लिए तैयार हो जाता है। प्रकाश को ठाकुर हिम्मत सिंह ने ही संगीत सीख्रने के लिए गुरुजी के पास भेजा था। प्रकाश के पिता के अंतिम इच्छा के अनुसार प्रकाश और हिम्मत सिंह की बेटी जमुना के साथ बचपन में ही लगन हो गया था। जमुना बरसों से प्रकाश के इंतज़ार में रहती है। रत्ना के प्यार में प्रकाश जमुना के प्यार को नज़र अंदाज़ करता है। लेकिन सच्चाई जानकर रत्ना प्रकाश से जान बूझकर दूर चली जाती है। जमुना के साथ प्रकाश का विवाह होता है लेकिन शादी में नाचने आयी रत्ना को पैसा देता है वह पैसा प्रकाश को लौटाकर चली जाती है। जमुना से प्रकाश को पता चलता है कि उसे देख्रकर ही रत्ना ने प्रकाश को छोडकर चली गयी थी। प्रकाश रत्ना को देख्रने दरबार जाता है लेकिन उस्ताद के साथ वह महल छोडकर चली गयी थी। प्रकाश उसे ढूँढ लेता है लेकिन ठाकुर हिम्मत सिंह के लोगों से बच निकलने की कोशिश दोनों पहाड से नीचे गिर कर मर जाते हैं। सूरज रत्ना की याद में बेचैन होता है। अपने मंगेतर रीटा से भी दूरी रख्रता है। सूरज बिना किसी को कुछ बताये अपने जीजाजी के पास चला जाता है। वह पहाडी इलाके में डॉक्टर है। अपने पत्नी की मौत के बाद अपने बेटे के साथ पहाडी इलाके में रहता है। आदिवासी लोगों के बीच रहने के कारण डाक्टर उनके के चहीते थे। बस्ती के लोग उनका मान-सम्मान करते हैं। वहाँ सूरज रत्ना से मिलता है। मगर वह बस्ती के

सरदार के बेटा अप्पा के मंगेतर झुमरी थी। धीरे-धीरे में दोनों में प्यार बढता है। सूरज पिछले जन्म के बारे में कहता है लेकिन झुमरी को कुछ याद नहीं आती। उसे विश्वास दिलाने के लिये उस महल में झुमरी को ले जाता है जहाँ वे दोनों गाना और नाच प्रस्तुत करते थे। झुमरी को सब कुछ याद आती है। सरदार के बेटे अप्पा सूरज और झुमरी के रिश्ते के खिलाफ होता है।

डॉ. विनोद कबीले के सरदार से सूरज और झुमरी की शादी की बात करते हैं। लेकिन सरदार अपने कबीले के नियम को तोडना नहीं चाहता। कबीले की लडकी सिर्फ उसी कबीले के लडके की हो सकती है। डॉ. विनोद उनके पिछले जन्म की कहानी बताता है और सबूत के तौर पर रत्ना की फोटो लाने के लिए कहते हैं। लेकिन अप्पा फोटो चोरी करके वादियों में फेकता है। लेकिन डॉ. विनोद के बेटे को फोटो मिलता है। सरदार को सच्चाई मालूम होता है। अप्पा ज़बरदस्ती झुमरी से शादी करने के लिए उसे उठा कर ले जाता है। सूरज झुमरी को बचाता है और दोनों का मिलन होता है।

प्रस्तुत फिल्म में पुनर्जन्म को केन्द्र बनाकर सुन्दर प्रेम कहानी को फिल्माया है। सूपरहिट गानों से फिल्म ओर भी मनोरंजक बन पायी है। फिल्म सामाजिक यथार्थ से परे काल्पनिक अधिक है। उसमें सच्चाई नज़र नहीं आती जिसमें आदिवासी जीवन, शोषण, संघर्ष, पीडा, वेदना, शौर्य, कला, अस्मिता आदि को नज़र अंदाज़ करते हैं। फिल्म में आदिवासी जीवन को दिया गया स्पेस नगण्य है या उसमें रोमांटिक दृष्टिकोण अधिक नज़र आते हैं। फिल्म में आदिवासी लोगों की समस्याओं को समझेने की बजाए उन्हें मनोरंजन के नाम पर वस्तू के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

### 3.2.15 दो दिल (1965)

हृषिकेश मुखर्जी द्वारा निर्देशित 'दो दिल' एक प्रेम कहानी है। इसमें विश्वजीत, राजश्री, प्राण और महबूब ने मुख्य किरदार निभाये है। रियासत के राजकुमार और आदिवासी बस्ती की लडकी के प्रेम प्रसंग के ज़रिए प्रेम, षड्यंत्र, आपसी रंजिश, अत्याचार, शोषण, प्रतिरोध आदि को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

महाराजा किरण सिंह की मृत्यू के बाद वसीयत नामा पढते हैं तो राजा महल की ज़िम्मेदारी अपनी बहन राणी इन्दुमति को सौपते हैं। शाही गवैय्ये से प्यार करने के जुर्म में महल से निकाली गयी राजकुमारी अरुणा देवी के बडे बेटे को राजा बनाने की घोषणा करते हैं। महाराजा के छोटे भाई के पोते कुंवर प्रताप सिहं यह सुनकर गुस्सा हो जाता है। वह राजा बनने की तमन्ना में था। सिपाहियों द्वारा राजकुमारी की खोज होती है। गाँव के पूजारी के घर से राजकुमारी की बेटे को पाता है। राजकुमारी और पति मन्नू के बचपन में ही मर जाता है। पूजारी अपने बेटे की तरह उसे पालता है। मन्नू महल जाने के लिये तैयार नहीं होता लेकिन पूजारी का कहना मानकर अपने नाना के अंतिम इच्छा पूरा करने के लिए वह महल जाता है। रानी माँ द्वारा उसका स्वागत होता है। मन्नू के देखरेख के लिए बहादुर सिंह को नौकर के रूप में रखती है। मन्नू बहादुर को अपने दोस्त की तरह मानता है।

मन्नू को राजा बनाते हैं। जल्दी ही वह राजकाज संभालने में कामयाब हो जाए। लेकिन मन्नू राजा की तरह नहीं प्रजा के सेवक के रूप में सबसे प्यार और सम्मान से पेश आता है। राजकाज से कुछ दिन की छुट्टी लेकर वह सैर पर निकलता है। बहादुर के कपडे पहनकर वह बेस बदलकर बाहर निकलता है।

आदिवासी सरदार की बेटी बिजली से मिलता है और वह मन्नू को लेकर बस्ती पहूँचती है।

पार्वतीपुर पहूँचकर मन्नू को पता चलता है कि प्रताप सिहं के सिपाही आदिवासियों पर जुल्म करते हैं। उनके फसल और लडकियों को उठाकर ले जाते हैं और बस्ती वालों से जानवरों की तरह पेश आते हैं। मन्नु जानता है कि इन सबके पीछे प्रताप सिंह का हाथ है इसलिए उसे अपने ओहदे से निकालता है। मन्नू और बिजली एक दूसरों से प्यार करने लगते है। प्रताप सिंह रानी माँ को इसका खबर देता है और उन्हें लेकर पार्वतीपुर जाता है। रानी माँ की पति की मृत्यू पार्वतीपुर के लोगों के हाथों द्वारा ही हुआ था। इस कारण रानी माँ इस रिश्ते से नाराज़ थी। रियासत और बिजली दोनों में से एक को चुनने के लिए मन्नू से कहती है। वह राजमहल छोडकर पार्वतीपुर जाता है। लेकिन पार्वतीपुर वाले जानते हैं कि राजा वेष बदलकर उन्हें धोख्रा दिया है वे मन्नु को ज़िन्दा जलाना चाहते हैं लेकिन ऐन मौके पर बहादुर आकर सच बताता है।

कुंवर प्रताप सिंह राजा बनाता है और मन्नू को मारने के लिये आधीरात को सिपाहियों के साथ आता है और पूरी बस्ती को जलाकर राख्र कर देता है। बहादुर मन्नु को बचाने के लिये उसे डंडा मारकर बेहोश करता है। प्रताप सिंह बिजली को उठा कर ले जाता है और उसकी इज्जत लूटने की कोशिश करता है। रानी माँ आकर उसे बचाती है लेकिन प्रताप सिंह रानी माँ को भी कैदी बनाते है। आदिवासी लोगों की सहायता से मन्नु रियासत पर हमला करते है। प्रताप सिंह और मन्नु के बीच लडाई होती है। भाई होने के नाते मन्नू उसे ज़िन्दा छोडता है लेकिन प्रताप सिंह उसे

मारने लगते है तो रानी माँ उसे गोली मारती है। रानी माँ मन्नु और बिजली को राजमहल सौंपती है।

प्रस्तुत फिल्म में आदिवासी जीवन की झलक तो मिलती है। आदिवासी बस्ती में रहनेवालों की ज़िन्दगी खुशहाल है। रियासत के सिपहियों द्वारा उनका आर्थिक और शारीरिक शोषण होते है। उनके फसल और लडकियों पर कब्ज़ा करते हैं। रियासत के लोग आदिवासी लडकी और उनके संपदा पर अपना अधिकार जमाते हैं। फिल्म यथार्थ से ज्यादा कल्पना से निकट संबंध रखते हैं।

### 3.2.16 राजकुमार (1964)

शंकर द्वारा निर्देशित 'राजकुमार' फिल्म में रियासत और आदिवासी समाज को चित्रित किया है। अधिकार पाने की लालसा में षडयंत्र रचाकर खून की होली खेलनेवाले लोगों का पर्दाफाश किया गया है। राजकुमार भानु प्रताप अपने दोस्त कपिल के साथ एक दशक बाद अपने रियासत लौटता है। भानु प्रताप की माँ की मृत्यू के बाद उनके पिता राणी कलावती से शादी करता है और उनके एक बेटा भी है। रानी के भाई नरपत सिंह सिंहासन पर कब्जा करना चाहता है। इसलिए अपनी बहन कलावती को झूठे सपने दिखाकर अपने षडयंत्र में शामिल करते है। कलावती अपने बेटे को राजा बनाना चाहती है इसलिए भानु प्रताप को रास्ते से निकालने के लिए अपने भाई की मदद करती है। भानु प्रताप को पहले से पता होता है कि उसकी ज़िन्दगी खतरे में है। महल की धाय माँ जिसने भानु प्रताप का देखबाल किया था उसने अपने बेटे कपिल को इसलिए विदेश भेजा कि राजकुमार को रियासत के लोगों के बारे में जानकारी दे। राजकुमार अपने आप को सबके सामने जोकर के रूप में

पेश करता है। सब उन्हें पागल समझते हैं। भानु प्रताप को मारने के लिए नरपत सिंह सिपाहियों से गोली चलवाते है लेकिन बुलेटप्रूफ पहनने से वह बच जाता है।

भानु प्रताप और कपिल बेस बदलकर आदिवासी बस्ती में पहूँचते हैं। और नरपत सिंह के राज को जानना चाहता है। नरपत के खूफिये महल में पहूँचते हैं। उन्हें पता चलता है कि आदिवासी बस्ती के भीमसरन नरपत के खास आदमी है। बरपत बस्ती के आदिवासी सरदार को मारता है और खून का इल्जाम भानु प्रताप पर डालता है। सरदार की बेटी न्याय माँगती राजमहल आती है और अपने पिता के हत्यारों को सज़ा खुद देना चाहती है। भानु प्रताप को कपिल राजमहल से बचा लेता है। दोनों बेस और नाम बदलकर बस्ती में रहने लगते हैं। इसी बीच भानु प्रताप और आदिवासी राजकुमारी के बीच में प्यार होता है। वह कबीले की राणी बनती है। लेकिन भीमसरन सरदार बनना चाहता है इसलिए वह नरपत की सहायता करता है। नरपत के सिपाही आदिवासी राजकुमारी को उठा कर ले आती है। और ज़बरदस्ती शादी करना चाहता है लेकिन कपिल और भानु प्रताप आकर उसे बचा लेते हैं। राजकुमारी अपने घर में उन्हें पनाह देती है। भीमसरन आदिवासी लोगों को भटकाकर लाता है कि गैर मर्द को अपने घर में रखते है यह बस्ती के राजकुमारी को शोभा नहीं देती। कपिल और भानु प्रताप यह पता लगाता है कि राजकुमार और सरदार को किसने गोली मारी थी। कपिल भीमसरन की कही गयी बात को रेकोर्ड करता है और महाराज को सुनवाता है। महाराज को पता चलता है कि सबके पीछे नरपत का ही हाथ है। लेकिन नरपत महाराज और महाराणी को कैदी बनाते है और भानु प्रताप को भी पकडता है। आदिवासी राजकुमारी को अपने पिता की हत्यारे से बदला लेने के लिए बुलाते हैं। उसे पता चलता है कि राजकुमार से ही वे प्यार करती

है। कपिल, धाय माँ और कलावती के बेटे नरपत के खिलाफ लोगों को इकट्ठा करते हैं। लडाई में जीत सच्चाई की होती है। राजकुमारी अपने पिता के हत्यारे नरपत को मारते हैं। महाराजा भानु प्रताप और राजकुमारी की शादी करवाते है।

प्रस्तुत फिल्म में आदिवासी समाज और रियासत के बीच के संबंध को खुबसूरती से फिल्माया गया है। अधिकार के लिये अंधे होकर खून-खराबा करने के लिये तैयार लोगों को चित्रित किया है। फिल्म में प्यार, षड्यंत्र, संघर्ष आदि को सुन्दर ढंग से पेश किया गया हैं। आदिवासी समाज, उनका नाच-गाना खुबसूरती से फिल्माया है। फिल्म के सारे गाने सुपरहिट है। आदिवासी समाज की समस्या को उजागर नहीं किया बल्कि एक समृद्ध खुशहाल समाज को पर्दे पर उतारा है। आदिवासी समाज को सुन्दर कन्याओं से फिल्म को और भी रंगीन बनायी गयी है। प्रस्तुत फिल्म में आदिवासी स्त्री कमज़ोर नहीं है। राजकुमारी संगीता के ज़रिए आदिवासी स्त्री को वीर परिवेश में प्रस्तुत किया है। उसमें डर या मासूमियत मात्र नहीं है बल्कि साहस और लडने की ताकत भी है। निर्देशक ने आदिवासी समाज को सादगी से चित्रित किया है।

### 3.2.17 ये गुलिस्ताँ हमारा (1964)

आत्माराम द्वारा निर्देशित 'ये गुलिस्ताँ हमारा' फिल्म में चीन के साथ सीमा पर रहनेवाले आदिवासी समुदायों को दर्शया है। देव आनंद, षर्मिला टागोर और प्राण ने मुख्य भूमिका निभायी है। भारत के पूर्वी हिस्से में रहनेवाले आदिवासी भारत को दुश्मन समझते हैं। विजय इंटलिजन्स ब्यूरो के अधिकारी है उन्हें खास मकसद के लिए सुषिमा नदी पर पुल बनाने की ज़िम्मेदारी सौपते हैं। जिससे आदिवासी समाज के साथ संबंध जोडकर भारत के प्रति उनके नफरत को मिटा

सकें। आदिवासी लोग जगंरूनामी नामक व्यक्ति को महाराज मानते हैं। उनके कहने पर जान भी देने के लिए तैयार है। असल में वे आदिवासी को भारत के खिलाफ लडाकर अपनी निजी मकसद पूरा करते हैं। वे समझते हैं कि पुल बनाने से भारत उन्हें गुलाम बना देगा और मार डालेंगे। पुल तोडने के लिए आदिवासी लोग आते है। इसमें सेनापति तेजू और रेनी भी शामिल है। वे पुल बनाने के काम करनेवाले मज़दूरों को भी मारते है। विजय द्वारा रेनी पकडी जाती है। उसे पता चलता है कि भारत के लोग बुरे नहीं है। धीरे-धीरे रेनी और विजय के बीच नज़दीकियाँ बढती है। रेनी और उनके साथियों को जंगरूनामी खत्म करने के लिए लोगों को बेचते है। विजय जान पर खेलकर उन्हें बचाता है। रेनी विजय की सहायता करने के लिए तैयार हो जाता है।

रेनी अपनी बस्ती में लौट जाती है। और महाराज और तेजु को विश्वास दिलाती है कि वह आज भी उनके गुलाम है। विजय रेनी के साथियों को भी छोडता है। विजय हेलिकोप्टर मे रेनी की बस्ती में पहूँचता है। महाराज के आदमी उसे पकड कर ले जाता है। विजय भरोसा दिलाता है कि वह भारत के लोगों से नाता नहीं रखना चाहता वह महाराज की सहायता करने के लिए तैयार है। इसके लिए भारत के बन्दूक भरे ट्रक को हासिल करने में विजय महाराज की सहायता करता है। विजय और रेनी आदिवासियों को इकट्ठा करते है और बताते है कि वह हिन्दुस्तानी है। महाराज की गुलामी छोडकर आज़ादी की ओर बढने को कहते हैं। विजय आदिवासी बच्चे को शिक्षा देता है। महाराज पुल तोडने की ज़िम्मेदारी विजय को सौंपता है लोकिन विजय बम को निकाल देता है। धोखेबाज़ी करने के कारण महाराज विजय को पकडता है और मौत के घाट उतारने का निर्णय लेता है। आदिवासी और

महाराज के लोगों के बीच लडाई होती है। पुलिस भी वहाँ पहूँचते हैं। महाराज और उसके आदमियों को मारते हैं और आदिवासियों को गुलामी के ज़ंजीर से बाहर निकालते हैं। सब मिल कर पुल बनाते हैं और हिन्दुस्तान को अपनाते हैं।

प्रस्तुत फिल्म में चीनी और भारत के बीच नफरत पैदा करके उससे लाभ उठानेवालों को चित्रित किया है। अपने मुनाफे के लिए आदिवासी को गुलाम बनाकर उनके ही जंगल, ज़मीन पर कब्ज़ा ज़मानेवाले लोगों का खुलासा फिल्म के ज़रिए हुआ है। आदिवासियों के खानिज संपदा को लूटने के लिए उन्हें डरा, धमकाकर मज़दूरी करवाते है। भोले भाले आदिवासी को अपने फायदे के लिये मोहरा बनाने वाले लोगों की ओर फिल्म इशारा करती है। फिल्म में आदिवासी समाज को व्यक्त किया है। नायिका फाशनबल कपडों में दिखाई देती है। बाहर के लोगों के साथ इनका नाता नहीं फिर भी आधुनिक जीवन के पहनावे बस्तियों तक कैसे पहूँचते हैं। फिल्म में प्रेम, संघर्ष, लडाई, शोषण सब पर नज़र डाला गया है। आदिवासी समाज की बदहाली को व्यक्त करने की कोशिश फिल्म द्वारा की गयी है।

उपर्युक्त सभी फिल्मों में आदिवासी समाज को दिखाने की कोशिश मात्र दिखाई देती है। असल में आदिवासी समाज गरीबी, बेरोज़गारी, अत्याचार, शोषण, बीमारी आदि से पीडित है। हाशिएकृत इस समाज की स्थिति दिन-ब-दिन बद से बदतर हो रही है। एक वक्त की रोटी जुटाने में भी वे सफल नहीं हो पाते। उनका जीवन अभाव में कटता है लेकिन फिल्म में जो आदिवासी दिखायी पडती है वे रंगीन कपडे पहनकर दिल लुभातेवाले अंदाज़ में पाये जाते है। यहाँ आदिवासी आर्थिक तंगी से पीडित समाज के रूप में प्रतीत नहीं होते। बल्कि ज़मीन्दार या शाहरी लोगों द्वारा उनके समाज के लडकियों का शोषण ही फिल्माया है। फिल्मों में संथाल, नागा, बंजारा, पहाडी आदि आदिवासी समाज को दिखाया गया है। वास्तव में फिल्म में

उनके समाज या रीति-रिवाज़ पर ख़ास ध्यान नहीं दिया है। निर्देशक या पटकथाकार का ध्यान सिर्फ नाच-गाने में लगा है। आदिवासी जीवन ही सगीतमय है। नाच और गाना उनके जीवन के अभिन्न अंग है। इसी को फिल्मों में सुन्दर ढंग से फिल्माया है।

आदिवासी को केन्द्र में रखकर जो पटकथाएँ लिखी हैं उनमें आदिवासियों को रंगीन सुनहले परदे के लिये बनायी गयी है। ज़्यादातर पटकथा में आदिवासी को आर्थिक रूप से संपन्न दिखाया है। वह वनोपज, खेती और अन्य काम करके अपनी ज़िन्दगी को खुशहाल बनाती देख सकते हैं। इसके अपवाद कुछ फिल्में हैं जिसमे गरीबी को चित्रित किया है- 'मृगया' और 'रोटी' में गरीबी और शोषण से परेशान समाज को चित्रित किया है। 'रोटी' फिल्म में पटकथाकार ने आदिवासी समाज को संपन्न दिखाया है। क्योंकि उनके समाज में मिल जुलकर काम करते हैं और जो भी फसल उन्हें मिलते हैं एक समान बाँट लेते हैं। इसलिए आदिवासी समाज में कोई भूखा या गरीब नहीं है। शहर के साधारण लोग ही पूँजीपतियों के कारण एक वक्त की रोटी के लिये भीख माँगता फिर रहा है। उन्हें पेट भरने के लिये जूठन खाना पडता है।

'मृगया' फिल्म में ज़मीन्दार ज़बरदस्ती आदिवासी से 'कर' या सूद लेते हैं। अगर वह समय पर कर दे नहीं पाते तो अगले बार ब्याज के साथ लौटाना पडता है। पैसों के लिए गिरवी रखी ज़मीन पर मनमाने ढंग से ब्याज लेते हैं और ब्याज में रुकावट आने पर ज़मीन को हडप लेते हैं नहीं तो उनके माँ-बेटी को इसके बदले ले जाते है और अपने हवस का शिकार बनाते हैं। प्रस्तुत फिल्म में पटकथाकार ने आदिवासी जीवन की त्रासद कथा को पेश किया है जो आदिवासी जीवन का यथार्थ ही है। आदिवासी लेगों को पैसा या शराब का लालच देकर अपने समाज के

खिलाफ खडा करता है। ऐसे लोग ज़मीन्दार के पीछे कुत्ते की तरह धुम हिलाता चलता है। उन्हें अपने समाज पर होनेवाले अत्याचारों से कोई शिकायत नहीं है। इस फिल्म में पटकथाकार ने आदिवासी समाज के यथार्थ जीवन को दर्शाने का प्रयास किया है थोडी बहुत कल्पना का आभास भी मिलता है फिर भी आदिवासी समाज की समस्याओं को उजागर करने में सफल हई हैं।

**निष्कर्ष**

ज्यादातर पटकथा में आदिवासी समाज को खुबसूरती से फिल्माया है। आदिवासी लडकियों को अप्सरा के समान सुन्दर दिखाई है और आदिवासी लड़के को जंगली के रूप में । इस कारण आदिवासी लडकियाँ शहरी लडके से प्रेम कर बैठती है। पटकथाकार की नज़रिये में आदिवासी लडके बर्बर, जंगली और विरूप होते हैं। 'कुदरत', 'बंडिट क्यून', 'रोटी' को छोडकर बाकि सभी फिल्मों में आदिवासी लडकी शहरी लडकों के साथ संबंध रखते हैं। सभी पटकथाकार यह गलतफहमी पाल रखे हैं कि आदिवासी लडकियाँ अपने समाज के लडकों से ज्यादा बाहर के लडकों से प्रभावित हैं। वास्तव में आदिवासी समाज की लडकियाँ बाहर के लोगों से नहीं अपने समाज में ही शादी करती हैं। क्योंकि उनके बस्ती का नियम सख्त है। अपने सरदार की बातों का उल्लंघन आदिवासी लडकियाँ नहीं करतीं। उन्हें अपनी कुल की मर्यादा का ख्याल होती है। फिल्मों में पटकथाकार ने यथार्थ से ज्यादा कल्पना को महत्व दिया है। पटकथाकार आदिवासी समाज को खुबसूरती से पेश किया है लेकिन उनके यथार्थ जीवन या समस्या को उजागर करने में असफल साबित हुए हैं।

## सन्दर्भ सूची


1. ख़ुशनुमा परवीन- ज़िन्दगी में भी डाला असर ('मीडिया विमर्श', सिनेमा विशेषांक-1, दिसंबर-2012) पृ.30
2. सुजाता पारमित्र- हिन्दी फिल्मों में दलित स्त्री ('मीडिया विमर्श', सिनेमा विशेषांक-3, जून-2013) पृ.48
3. डॉ. चन्द्रऍकांत मिसाल- सामाजिक मूल्य निर्धारण में सिनेमा का योगदान, पृ.12
4. Robet. A Armour- Film a reference guide, p.87
5. डॉ.अमित शर्मा- सिनेमा बनाएगा भारत को महाशक्ति, पृ.76
6. डॉ.सी. भास्कर राव- फिल्म और फिल्मकार, पृ.185
7. विजय अग्रवाल-सिनेमा की संवेदना, पृ.205
8. प्रसून सिन्हा- भारतीय सिनेमाः एक अनंत यात्रा, पृ.85
9. हिन्दुस्तान- दैनिक समाचार, 26 जून 2009, पृ.9

JYOSMI. K. “A STUDY OF TRIBAL LIFE IN HINDI SCREENPLAY”. THESIS. DEPARTMENT OF HINDI, UNIVERSITY OF CALICUT, 2018.

# चौथा अध्याय

# आदिवासी पटकथा : विश्लेषणात्मक अध्ययन

## 4.1 पटकथा और आदिवासी मुद्दें

आज का वर्तमान युग मीडिया के प्रबल पकड में है। मीडिया में सबसे प्रभावशाली और सशक्त माध्यम फिल्म है और फिल्में आज हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन गयी हैं। परिवर्तन सृष्टि का नियम है। हर चीज़ बदलती रहती है। समाज भी बदलता रहता है। आज़ादी के बाद भारतीय समाज गरीबी, सूदखोरी, नक्सलवाद, आतंकवाद, भ्रष्टाचार, मंहगाई आदि समस्याओं से लगतार जूझ रहा था। फिल्म ने भी समाज के इस बदलाव को बारीकी से जाना-परखा है। समाज के बदहाली और दुर्दशा को दर्शक के सामने खुल्लम-खुल्लम रख दिया। सिनेमा की शुरुआत ही साहित्य से हुई है। समाज और सिनेमा परस्पर पूरक है। डॉ राही मासूम रजा ने तो सिनेमा को साहित्य की एक विधा ही घोषित कर दिया और उसे साहित्य के पाठ्यक्रम में शामिल करने की पैरवी कर डाली। "सिनेमा साहित्य की एक विधा है। इस समय विचार का विषय यह है कि सिनेमा की पहूँच छपे हुए शब्द से अधिक है, उसके लिए हमारे बुद्धिजीवी कितना ही नाक-भौह चढाएँ, साहित्य एवं समाजशास्त्र जैसे विभाग फिल्म जैसी ताकतवर साहित्यिक विधा को अनदेखा नहीं कर सकते। सिनेमा की इस बेपनाह ताकत के आतिरिक्त साहित्य की शिक्षा और समझ के लिए सिनेमा को साहित्य स्वीकार कर उसे साहित्य के पाठ्यक्रम में शामिल करना आवश्यक है।"[1]

पटकथाकार ने हिन्दी सिनेमा के उद्‌भव से लेकर समाज के कई ज्वलंत मुद्दे को फिल्म का विषय बनाया है। इसमें पूरी ईमान्दारी से पटकथाकार ने अपनी कलम चलायी है। बदलते समाज से दर्शकों को वाकिफ कराना ही पटकथाकार का लक्ष्य हैं। अपनी ज़िम्मेदारी को निभाने के लिए वे हर दम तैयार खडे हैं। समाज में जो

कुछ घटित हो रहा है उसे पटकथा के ज़रिये कागज़ पर उतारकर उसे फिल्मों द्वारा दर्शकों के सामने उजागर करते हैं। आज भारत विकास के बुलंदियों को छू कर निकल गया है फिर भी समाज में कई सारी समस्याएँ मौजूद हैं जिसका समाधान आसानी से ढूँढ नहीं सकते। आज जाति व्यवस्था, भ्रष्टाचार, नक्सलवाद और आतंकवाद अब चरम सीमा पर पहूँच गया है। पटकथाकार में इन्हीं समस्या को फिल्माया है जिससे समाज इस तरह की समस्या से रूबरू हो जाये। फिल्म की शुरूआती दौर में ज्यादातर फिल्में धार्मिक मिसाज के होते थे। धीरे-धीरे समाज के परिवर्तन को स्वीकार करके पटकथाकार ने काल्पनिकता की दुनिया को छोडकर जीवन की कडवी यथार्थ को फिल्म के ज़रिए प्रस्तुत करने में साहस दिखाया है। इसमें बाल विवाह, सती, शिशु भ्रूण हत्या, विधवा विवाह, वेश्यावृत्ति, बलात्कार, समलैंगिकता, विवाहेतर संबध, देवदासी प्रथा, नक्सलवाद और जातीय हिंसा जैसे कई विवादित विषयों पर काफी प्रभावशाली और संवदेनशील फिल्में बनी है। पटकथाकार ने अपने प्रतिभा और कौशल से इन समस्या को उजागर करके अपनी तरह से इसका समाधान पर भी ध्यान दिया है।

समाज के कई मुद्दों को लेकर फिल्में निकल रही है। हर पटकथाकार अलग तरीके से विषय को प्रस्तुत करते हैं। कुछ लोग सफल हो जाते है तो कुछ लोग असफल। विषय कोई भी हो लेकिन उससे दर्शक को बिठाये रखने की ताकत होनी चाहिए। पटकथाकार हमेशा यह ध्यान रखता है कि पटकथा में नवीनता और रोचकता बनाये रखे। समाज की जटिल समस्या को लेकर लिखी गयी फिल्म भी फ्लॉप हो सकती है। पटकथाकार को दर्शक के पसंद पर गौर फरमाना चाहिए।

समाज और फिल्म का गहरा संबंध है और उन ज्वलंत मुद्दों को लेकर काफी पटकथाएँ लिखी गयी हैं।

### 4.1.1 आर्थिक बदहाली

जीवन का मूल तत्व ही अर्थ है। आर्थिक रूप से पिछडे व्यक्ति को हर तरफ से शोषण का शिकार होना पडता है। भारत विकास की बुलंदियों पर पहूँच गया है फिर भी यहाँ ऐसे भी कई वर्ग हैं जो आर्थिक बदहाली के कारण भूखे मर रहे हैं। आदिवासी समाज जो अपने जल, ज़मीन, जंगल में ख़ुशहाल ज़िन्दगी बिताते थे आज उनकी स्थिति दयनीय हैं। मेहबूब द्वारा निर्देशित 'रोटी' फिल्म में गरीबी की त्रासद चित्रण देखने को मिलती है। एक वक्त की रोटी के लिये कचरों में से जूठन निकाल कर अपनी भूख मिटानेवाले लोगों का मार्मिक चित्रण हैं। मृणाल सेन द्वारा निर्देशित 'मृगया' फिल्म में भी इसका चित्रण है। आर्थिक अभाव के कारण ज़मीन्दार को सूद देने में असमर्थ होते है तो उसके बदले अपनी बेटी, बहू को ज़मीन्दार के हवस का शिकार होना पडता है। ज़मीन्दार आदिवासी लडकी पर जुल्म करते हैं लेकिन इनके खिलाफ लडने की ताकत आदिवासी में नहीं होती है।

### 4.1.2 पूँजीपतियों का अत्याचार

सदियों से यह जुल्म ज़ारी है। बेबस लोगों पर अत्याचार करना ज़मीन्दार या पूँजीपति अपना अधिकार मानते हैं। आदिवासी समाज की एक बडी विडंबना यह है कि उनके अत्याचार से पुरुष, स्त्री, बच्चे कोई नहीं बचते। महबूब का 'रोटी', शेकर कपूर का 'बैडिट क्यून', प्रकाश झा का 'चक्रव्यूह', गोविन्द निहलानी का 'आक्रोश', मृणाल सेन का 'मृगया', प्रकाश राव का 'इज़्ज़त', आत्माराम का 'ये

गुलिस्ताँ हमारा' आदि फिल्मों में पूजीपतियों के घिनौने हरकत का पर्दाफाश किया है। 'रोटी' फिल्म में एक वक्त की रोटी के लिए दर-दर भटकते लोगों का मार्मिक चित्रण हैं। पैसे कमाने की लत में आवश्यक वस्तुओं का दाम महंगा करके लोगों की ज़िन्दगी से खेलते हैं। कम मजदूरी देकर और कम कीमत में किसानों से उत्पाद खरीदकर दुगने दाम में लेने के लिये उन्हें मज़बूर करती हैं। 'बैंडिट क्यून' में आदिवासियों को शारीरिक और मानसिक पीडा देकर दबाये रखते हैं। 'चक्रव्यूह' में नक्सलेट नाम पर भोलेभाले आदिवासियों को मार-गिराते हैं। अधिकारी और पुलिस आदिवासी स्त्री का शारीरिक शोषण करते है। 'मृगया' में ज़मीन्दार कर या सूद के नाम पर आदिवासियों की ज़मीन और बहू-बेटी की इज्ज़त पर अधिकार जमाते हैं। 'इज्ज़त' फिल्म में ठाकुर द्वारा आदिवासी लोगों को दबाये रखना और आदिवासी स्त्री का शोषण सामने आते हैं। 'ये गुलिस्ताँ हमारा' इसमें आदिवासी को अपनी निजी स्वार्थ के लिए आदिवासी को गुलाम बनाकर उनसे ज़्यादती करते नज़र आते हैं। आदिवासी की खानिज संपदा को लूट कर आदिवासी को गुलाम बनाकर उनके जंगल-ज़मीन पर राज करनेवाले लोगों की कूट नीति को चित्रित किया हैं। 'आक्रोश' में आदिवासी और सामंतों के बीच का अंतर्कलह और शोषण पर आधारित हैं। उपर्युक्त सभी फिल्मों में आदिवासियों को डरा- धमकाकर सामंत वर्ग या पूँजीपति अपने इशारों पर नचाते हैं। इसके खिलाफ खडे रहने वालों को झुठे आरोप में जेल पहूँचाती है नहीं तो मौत के घाट उतार देते हैं। आदिवासियों पर होनेवाले अत्याचार और शोषण का जीता जागता तज़वीर फिल्मों के ज़रिए प्रस्तुत हैं।

### 4.1.3 भ्रष्टाचार

देश के कई समस्याओं से हम जूझते हैं। इनमें बहुत ही गंभीर समस्या भ्रष्टाचार है। आज भारत देश में भ्रष्टाचार तेज़ी से बढ़ रहा है। जीवन का कोई क्षेत्र इसके प्रभाव से मुक्त नहीं है। यदि समय रहते इसे नहीं रोका गया तो यह पूरे देश को अपने चपेट में ले लेगा। हिन्दी फिल्मों में भ्रष्टाचार को दिखलाती कई फिल्में मौजूद हैं। आदिवासी भी भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं है। 'रोटी' फिल्म में उत्पाद का दाम बढाकर पूँजीपाती वर्ग मज़दूरों को शोषित करते हैं। काला बाज़ारी करके दूगुने दाम में उत्पाद को बेचते हैं। 'चक्रव्यूह' फिल्म में कॉपरेट कपनियों से पैसे लेकर सरकार, नेता और पुलिस अधिकारी आदिवासियों पर जुल्म करते हैं। उन्हें आदिवासियों की हालत के बारे में ख्याल नहीं हैं। नक्सलेट के नाम पर मासूम आदिवासियों को गोलियों से बूँध देते हैं। 'जनम- जनम' फिल्म में भी रिश्वतखोरी देख पाते है। ज़मीन्दार पैसे देकर आदिवासियों के ज़मीन और जंगल पर कब्जा करते हैं। वन अधिकारी और पुलिस को पैसा देकर वनोपजों का गैर कानूनी काम शूरु करते हैं। काम करने के लिये आदिवासियों को मजबूर करते हैं। विजय सदानह द्वारा निर्देशित प्रस्तुत फिल्म में भ्रष्टाचार से भरे अधिकारियों का पर्दाफाश किया है। मोहन सेगल की 'कर्तव्य' में भी रिश्वत देकर जंगलों से चंदन, हाथी के दान्त, चीते की चमडी आदि की स्मगलिगं करते हुए दिखाई पडते हैं। फिल्म में यह स्पष्ट रूप से दिखाते हैं की पैसे की लालच में पुलिस और वन अधिकारी उनके साथ मिले हुए हैं। इन ज़मीन्दारों के खिलाफ खडे रहनेवाले वन अधिकारियों को ज़िन्दा जला देते हैं। फिल्म में हमारे भ्रष्ट समाज और भ्रष्ट शासन की ओर गहरा प्रभाव किया हैं।

### 4.1.4 वन दोहन

आज जनसंख्या वृद्धि के साथ वन का विनाश भी बढ़ने लगा है। लोग यह भूल गये हैं कि वृक्ष हमारे जीवन-रक्षक हैं। वृक्ष से ही हमें प्राण वायू मिलती हैं। अनेक आर्थिक समस्याओं का समाधान इन्हीं से होता है। ईधन, कोयला, जटी-बूटी, औषधियुक्त तेल, रबड, चंदन आदि प्राप्त होते हैं। देश के 22.85 भाग में वन फैले हुए है। आज अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए लोग वन का दोहन कर रहे हैं जो हमें सर्वनाश की ओर ले जायेगा। आदिवासी दूर-दराज जंगल में रहते है। इसलिए वन दोहन का फल भुगतनेवाले मासूम आदिवासी ही हैं। वनोपज पर निर्भर उनकी आर्थिक जीवन को नष्ट करने का प्रमुख कारण वन दोहन है। फिल्मों के ज़रिए कई पटकथाकारों ने इस विषय को उठाया हैं और यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने की कोशिश भी किया है। 'मधुमती', 'कर्तव्य', 'जनम-जनम' आदि फिल्मों में इस मुद्दे को उठाया है। ठाकुर लोग गैर कानूनी तरीके से जंगल अधिकारी को पैसा देकर वन दोहन करते हैं। जंगल से पेड ही नहीं जानवरों का शिकार करके उनके चमडे और सीगं विदेशियों को बेचकर लाखों कमाते हैं। 'कर्तव्य' फिल्म में वन अधिकारी जो इस गैर कानूनी काम को रोकते है या इसका विरोध करते हैं उन्हें रास्ते से हटा देते हैं। इसके लिए पहले पैसा, लडकी, शराब देकर अधिकारियों को वश में करते हैं नहीं तो डरा-धमकाकर काम निकालते हैं। उससे भी वे मानें नहीं तो उन्हें जान से मार डालते है। जंगल के मूल निवासी होते हुए भी आदिवासी सिर्फ मजदूर बनकर रह जाते है। उन्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। अपने ही ज़मीन से वे घसीट दिये जाते हैं। वन दोहन के कारण आदिवासी की ही नहीं बल्कि जंगल के जानवर और चिडियों का आवस व्यवस्था को भी बर्बाद किया हैं। इस कारण से ही जंगली जानवर

गाँवों में पहूँचकर उद्दम मचा रहे हैं। देश की वन संपत्ती को सुरक्षित रखना हर व्यक्ति का कर्तव्य है। लकिन लोगों को सिर्फ अपनी पडी है। पैसे और एश- ओ- आराम की ज़िन्दगी के पीछे भागने वाले लोगों को इन सबके के लिए समय नहीं होते। जंगल की कटाई से आदिवासी ही नहीं पूरे देश निवासियों के लिए ख़तरा हैं। वन हमारी संपत्ति है इसे बचाकर रखना ही हमारे भविष्य के लिए उचित हैं।

### 4.1.5 नारी शोषण

आजकल नारी शोषण संबंधी समाचार आम बात हो गयी है। बच्चों से लेकर बूढों तक शोषण के शिकार होते हैं। इसका मुख्य कारण मीडिया ही है। नारी का हर क्षेत्र में शोषण किया जा रहा है। नारी को आज भोगवस्तु के रूप में ही देखती है। एक महीने का बच्चा हो या सौ साल की बुढ़िया हो आज कामासक्त भेडियों के चंगुल में फँसते जा रही हैं। यह किस्से दिन-ब-दिन बढती जा रही है। इसके मुख्य कारणों में से एक तो हमारे देश का नियम ही है। यहाँ बलात्कार करने के जुर्म में सिर्फ जेल की सज़ा होती है इसलिए लोग यह सब करने में डरते नहीं है। हिन्दी फिल्मों में इस विषय को लेकर काफी फिल्में निकली हैं। जो दर्शकों को काम उत्तेजना देने से ज्यादा कुछ नहीं कर पाते। आदिवासी केन्द्रित फिल्मों में बलात्कार की समस्या का चित्रण मौजुद है। 'बैंडिट क्यून', 'मधुमती'. 'कुदरत', 'जनम-जनम', 'आक्रोश', 'चक्रव्यूह', 'सावन की घटा', 'इज्ज़त' आदि फिल्मों में आदिवासी लडकी पर होनेवाली शारीरिक शोषण को उजागर किया हैं। 'बैंडिट क्यून' फूलन देवी के जीवन पर आधारित फिल्म है। फिल्म में छोटी सी उम्र में पति द्वारा बलात्कार का शिकार होना पडता है। बडी हो गयी तो डाकू, सवर्णों आदि के द्वारा हवस का शिकार होना पडता है। सवर्ण लोगों द्वारा कई दिन कैद में रखकर

सामूहिक बलात्कार का शिकार भी होना पडता है। फिल्म में इस मुद्दे को उठाने का मुख्य कारण यह है कि यह कल्पना नहीं बल्कि फूलन देवी के यथार्थ जीवन को ही दर्शकों के सामने रख्रा है। उसके साथ जानवरों से भी बदतर रूप में सवर्ण पेश आते हैं। 'चक्रव्यूह' फिल्म में आदिवासी लडकी को पुलिस अफसर बलात्कार करते हैं। नक्सलेटों के संग काम करनेवाली लडकी को पकडकर थाने ले जाते है और बेरहमी से उसकी इज़्ज़त लूट लेती है। पुलिस अफसर होकर भी वह लडकी की रक्षा न करके अपने अधिकार का फायदा उठाते हुए नज़र आते हैं। बाकि सभी फिल्मों में अदिवासी लडकी को ठाकुर और जमीन्दारों के शोषण का शिकार होना पडता हैं। भूमंडलीकरण के इस दौर में नारी पर किये जानेवाला अत्याचार दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। इसके लिए कोई सख्त नियम अब तक लागू नहीं हुआ है। आज बलात्कार के बाद बेरहमी से या क्रूरतम रूप में उसकी हत्या भी कर डालते है। देश भर इसके विरुद्ध आवाज़ गूँज रहे हैं फिर भी इस समस्या में बढ़ावा ही हो रहा है। ताजुब की बात यह है कि बलात्कार के जुर्म में पकडनेवाले मुजरिमों में आज बच्चे भी शामिल है। मीडिया के बढती आकर्षण के वजह से आज के नौजवान संभलने से ज्यादा बिगड रहे हैं। आजकल के बच्चे संस्कृति-सभ्यता भूल चुके हैं। आज देश ऐसी दुर्दशा में है कि बेटा अपने माँ को और पिता अपनी बेटी की इज्ज़त लूटने में लगे हैं। आज रिश्ते-नाते सब सेक्स पर टिकी है। इस समस्या का हल तभी होगा जब नारी पर अत्याचार करनेवाले दरिन्दों को कडी से कडी सज़ा देने की नियम बनाये जायेंगे।

### 4.1.6 स्त्री नुमाईश की वस्तु

शुरुआती दौर से लेकर हिन्दी सिनेमा में स्त्री की छवि सुन्दरता और नुमाइश के लिये प्रस्तुत किया है। दर्शकों को दिल बहलाने के लिये या उनके कामोत्तेजना के लिये स्त्री पात्र को रखी गयी थी। पहले से ज्यादा आज स्त्री की छवि और खराब हो गयी है। पहले स्त्री सभ्यता की सीमा को लांघ कर नहीं जाती थी। सर पर पल्लू डालकर समाज और परिवार की इज्ज़त का ख्याल रखनेवाली सावित्री के रूप में नज़र आती थी। लेकिन ज़माना बदल गया है। दर्शकों की रुचि भी बदल गयी है। सिनेमा आज भूमणडलीकरण और बाज़ारवाद के जकडन में है। आज सब बिकाऊ बन गये हैं। पाश्चात्य प्रभाव हिन्दी सिनेमा को भी पूरी तरह बदल डाला है। आज स्त्री आधुनिक दृष्टिकोण रखनेवाली है उनके लिये समाज और परिवार की इज्ज़त कोई मायने नहीं रखती। अपने किरदार को सफल बनाने के लिये नंगे होने के लिये भी तैयार होती है। यह सिर्फ हिन्दी सिनेमा में ही नहीं बल्कि पूरे फिल्म इंटस्ट्री में व्याप्त हो गये हैं। आज कल की लडकियाँ कपडे उतारने के लिये संकोच नहीं करती। सब पैसों के लिये काम करते हैं और स्क्रिप्ट की डिमान्ड कहकर किसी भी रॉल के लिये तैयार हो जाती है।

हिन्दी सिनेमा में आरंभ से ही आदिवासी स्त्री को छोटे तंग कपडों में अर्धनग्न शरीर दिखाती दिल लुभावनेवाली वस्तू के रूप में चित्रित किया है। आदिवासी स्त्री को बलात्कार की साधन रूप में इस्तेमाल किया जाता है। यह सच है कि आदिवासियों पर अत्याचार और शोषण हो रहे हैं। सभ्य समाज द्वारा आदिवासी समाज बिन ब्याही माँ से भर गये हैं लेकिन आदिवासी की अपनी पहचान है, अस्तित्व है। उसे दूसरों के सामने बेइज्ज़त करके नहीं बल्कि उनकी समस्या को

समझकर उन्हें फिल्माने की कोशिश करनी चाहिए। 'बरसात', 'कुदरत', 'जनम-जनम', 'मधुमती', 'बैंडिट क्यून', 'तराना', 'कारवाँ', 'ललकार', 'रोटी', 'आक्रोंश', 'इज्ज़त' आदि फिल्मों में नारी को दिल लुभावने वाली अंदाज़ में फिल्माया गया है। लेकिन उसमें आदिवासी लडकी की सशक्त भूमिका नहीं दीख्र पडती। 'बैंडिट क्यून' इसके अपवाद है, उसमें 'फूलन' सशक्त नारी पात्र के रूप में उभर आयी हैं। फिर भी फिल्म में बलात्कार के ऐसे कई सीन है जिन्हें देख्रने के लिये ही लोग दिलचस्पी दिख्राते हैं। इसमें नायिका बिना कपडों के भी दर्शक के सामने पेश होती है। लोगों के लिए फिल्म मनोरंजन की वस्तू है। दर्शकों को इस तरह के सीन देख्रना ज्यादा पसंद है। इस कारण आजकल के हर फिल्मों में ऐसे सीनों को ज्यादा महत्व देते हैं। आदिवासी स्त्री की असली समस्या को उजागर करना किसी भी पटकथाकार का लक्ष्य नहीं है बल्कि मुनाफा कमाने की लत में आदिवासी को बाज़ारू चीज़ के रूप में दिख्राते हैं। विडंबना की बात है कि आदिवासियों के प्रति आज भी सभ्य समाज का दृष्टिकोण में कोई बदलाव नहीं आया है।

### 4.1.7 विस्थापन

आदिवासियों का पलायन और विस्थापन सदियों से होता रहा है, जो आज भी जारी है। विकास के नाम पर आदिवासियों के जल, ज़मीन, जंगल पर अधिकार स्थापित करके उनके ख्रनिज संपदा पर कब्ज़ा करके आदिवासियों को दर-दर भटकने के लिये छोड दिया है। आदिवासियों को पुनर्वास के नाम पर केवल धोख्रा ही मिला है। सरकार की उदासीन नीति ही आदिवासी जीवन को बर्बाद कर रख्र दिया है। खुदाई के कारण आदिवासियों की फसलों और जंगलों को तहस-नहस कर दिया है। 'चक्रव्यूह' फिल्म में कॉपरेट कंपनी आदिवासियों को विस्थापित करके उनके ज़मीन

पर कब्ज़ा करना चाहते हैं। इसके लिए नेता, पुलिस, वन अधिकारी मिलकर आदिवासियों पर जुल्म कर रहे हैं। नक्सलेट के नाम पर मासूम आदिवासियों को मार गिराते हैं। आदिवासी की बदनसीबी कहें कि जिस जंगल में वे रहते हैं वहाँ लोहा, कोयला, बोक्साइट, यूरेनियम आदि खनिज पदार्थों से भरे पडे हैं। यही कारण है कि विकास की सबसे अधिक मार आदिवासियों को ही झेलनी पड रही है। आज़ादी के बाद विकास के नाम पर 5 करोड एकड ज़मीन पर कब्जा किया है जिसमें अधिकतर ज़मीन आदिवासी की है। विकास के नाम पर आदिवासी के लिए इकट्ठा की गयी धन राशी से नेता और अधिकारी वर्ग का खूब विकास हुआ लेकिन आदिवासी गरीबी, बेरोज़गारी और अभाव की जीवन बिता रहे हैं।

विस्थापितों को कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पडता है। इसमें पीने की पानी की समस्या गंभीर है। विस्थापन के कारण आदिवासी महिलाओं को पानी के लिए कई किलोमीटर जाना पडता है। विस्थापन एक ऐसी त्रासदी है जो औरतों और बच्चों को अंधेरे की ओर डकेल दिया है। घरविहीन होने के कारण कई बीमारियों से भी जूझना पडता है। शौच के लिए स्थान का अभाव बीमारी बढ़ने के कारण बन जाते हैं। फिल्मों के ज़रिए इन सब समस्याओं को चित्रित करने में पटकथाकार पूरी तरह सफल नहीं हो पाये हैं। आदिवासी जीवन केन्द्रित ज़्यादातर फिल्मों में आर्थिक रूप से संपन्न समाज को दिखाया है।

### 4.1.8 नक्सलवाद

नक्सलवाद को बंगाल के छोटे से गाँव नक्सलबाडी के किसान आन्दोलने से जोडा गया है। आज नक्सलवाद को आदिवासियों से जोडकर देख रहे हैं। इसमें मीडिया का महत्वपूर्ण भूमिका रही है। नक्सलवाद देश के सामने एक विकराल

समस्या है। असल में नक्सलवाद- ''असमान विकास में पीछे छूट गए देशवासियों के जमात और आवाज़ है- 'नक्सलवाद' जो हक की लडाई लड रहे हैं।''[9] इस विषय पर बनी हिन्दी फिल्में है- 'हज़ार चौरासी की माँ', 'लाल सलाम', 'चक्रव्यूह', 'रेड अलर्टः द वार विथिन', 'द नक्सलाइट' आदि।

महाश्वेता देवी की उपन्यास पर आधारित गोविन्द निहलानी की फिल्म 'हज़ार चौरासी की माँ' नक्सल आन्दोलन से रूबरू करानेवाली फिल्म है। आज नक्सलवाद देश के हर कोने में व्याप्त हो रहे हैं। आज नक्सल आन्दोलन अपनी आन्तरिक उलझनों और विधानों का शिकार है। आज समाज में घोर अव्यवस्था और अराजकता दिखती है। राजनीति में जिस अनाचार-भ्रष्टाचार का बोलबाला है, उसके खिलाफ लडने के लिए एक बार फिर नक्सल आन्दलिन को संगठित होने, लडाई छेडने की ज़रूरत है। यही इस फिल्म का मूल स्वर है। 'हज़ार चौरासी की माँ' सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और कलात्मक दृष्टि से निश्चय ही एक सफल और सार्थक फिल्म है। युवाओं के लिये यह फिल्म मार्गदर्शक के रूप में है, जो भावुकतावश हिंसा और क्रांति की राह पकडकर गलती कर बैठते है लेकिन इसका अहसास होने तक पूरी तरह फँस चुके होते हैं। फिर वहाँ से निकलना खतरे से खाली नहीं है। व्यवस्था के विरुद्ध लडकर अपने अधिकार को पाने के लिए आवाज़ बुलंद करना चाहिए न कि अपने आपको मरवाकर यह साबित करना चाहिए। खुद को मार कर व्यवस्था को ठीक करने की सपना देखना डरपोक का काम है। इसलिए जुल्म और अस्तित्व के लिये संघर्ष करना चाहिए लेकिन सही रास्तें से यही फिल्म का संदेश है।

'लाल सलाम' गगनविहारी बोरात द्वारा निर्देशित फिल्म है। प्रस्तुत फिल्म में मुख्य रूप से आदिवासी, उनकी संस्कृति और उनके जीवन शैली से संबंधित विभिन्न सच्ची घटनाओं पर आधारित है। आदिवासी अपने अस्मिता और अस्तित्व को बचाने के लिये संघर्षरत है। फिल्म में भी इसी संघर्ष को फिल्माया है। नक्सलवाद की ओर आकृष्ट करने की कई वजह होती है। जब सहन की चरम सीमा पर पहूँचते हैं तो उससे बचने के लिये संघर्ष करनी पडती है। यह संघर्ष अपने हक के लिये हैं। आदिवासियों पर हो रहे अत्याचार और शोषण को देखकर उसके साथ खडे होकर न्याय दिलाने के लिए कई लोग नक्सलवाद की ओर आकृष्ट होते हैं। फिल्म की कहानी कंदोली आदिवासियों से संबंधित है। पुलिस और वन अधिकारी आदिवासियों को डरा धमकाकर अपना काम चलाता है। आदिवासियों को कम वेतन में काम करवाकर उनकी मज़दूरी का बडा हिस्सा पुलिस और वन अधिकारी हडप लेते हैं। पुलिस द्वारा आदिवासी लडकी के साथ ज़बरदस्ती शारीरिक संबंध जोडने का प्रयास देख कर घीसू विद्रोही होता है। पुलिस द्वारा बुरी तरह उसे पीटा जाता है। आदिवासी पर होने वाले जुल्म को देख कर वह नक्सलेट के साथ मिलते हैं। पुलिस द्वारा बलात्कार का शिकार होनेवाली रूपाली भी नक्सलवाद की ओर मुड जाती हैं। उसके प्रेमी डॉ. आकर उसे और भाई घीसू को वापस ले जाना चाहते हैं लेकिन दोनों आदिवासियों के हक के लिये लडने में दोनों खुशी ज़ाहिर करते हैं। फिल्म ऐसा संदेश दे रहा है की हक के लिये संघर्ष करना अनिवार्य है तब ही न्याय मिलेगा।

'द नक्सालेट' और 'रेड अलर्ट-द वार विथिन' में भी शोषण के विरुद्ध संघर्षरत आदिवासी समुदाय का चित्र उभरते हैं। 'चक्रव्यूह' फिल्म नक्सलवाद को लेकर की गयी बेहतरीन फिल्म है। फिल्म में नक्सलेट से परेशान पुलिस अफसर

आदिल ख्रान अपने दोस्त कबीर को नक्सलेट के बीच बोचते हैं और उनकी हर प्लान को बर्बाद करने में कामयाब भी होते हैं। धीरे-धीरे कबीर को पता चलता है कि वास्तव में आदिवासियों के साथ अन्याय हो रहा है। तो वह उसके साथ मिल जाते हैं। उनके टीम की लडकी को पुलिस पकडकर ले जाता है और अफसर द्वारा उसका बलात्कार होता है तो कबीर अपने आपे से बाहर हो जाता है और पुलिस थाने को बंब से उडाते हैं। आदिल ख्रान उसे समझ्राता है और वापस आने के लिए कहता है लेकिन वह इन्कार करता है और सरकार और नेता के ख्रिलाफ संघर्ष करने केलिए जाते हैं। अंत में कबीर मर जाता है फिल्म के ज़रिए निर्देशक यही ज़ाहिर करना चाहता है कि कितनी भी कोशिश कर लें नक्सलवाद को मिटाना मुश्किल है। क्योंकि एक को मारने से हज़ार बदले में ख्रडे रहेंगे। अपनी जीत होने तक वे संघर्ष करते रहेंगे। उनका सवेरा अधिक दूर नहीं है। फिल्मों ने नक्सलवाद की भीषण स्थिति को व्यक्त करते हुए यह बताना चाहा है कि उनकी मानसिकता ऐसी है जब तक जान रहेगा अपने अधिकार और हक के लिये मर मिटने के लिए भी तैयार होते हैं।

### 4.1.9 विद्रोही स्वर

ब्रिटीश शासन से लेकर अब तक आदिवासियों पर अत्याचार की सिलसिला ज़ारी है। बरसों से हो रहे शोषण से आज भी आदिवासी आज़ाद नहीं है। हर क्षण किसी न किसी रूप में वे सभ्य समाज द्वारा प्रताडित हैं। अब आदिवासी को स्वाभाविक रूप से वंचित, गरीब और पिछडे हुए लोगों की प्रजाति के रूप में देख्रा जाने लगा हैं। समाज की दृष्टि में अविकसित माने जाते हैं। लेकिन इन सबके पीछे के कारण सभ्य समाज ही है। आदिवासी अपने ज़मीन और जंगल में रहकर उसकी रक्षा करते हैं। वनोपज से अपनी जीविका चला कर ख्रुशहाल ज़िन्दगी जी रहे थे।

लेकिन जब से उनकी खनिज संपदा पर सभ्य समाज की नज़र लगी तब से आदिवासी जीवन का विनाश की शुरूआत हुई। विकास के नाम पर मासूम आदिवासी को मोहरा बनाकर गैर आदिवासी लोग अपनी निजी स्वार्थ के लिए उनके जंगल-ज़मीन हडपने लगे। यहाँ तक कि उसकी बेटी, बहू पर भी अधिकार जमाने लगें। बरसों से शोषण झेलते आदिवासी के अंतर जो विद्वेष पनपने लगे उसे आग देने के लिए शिक्षा एक सशक्त माध्यम बनी। शिक्षा से उन्हें अपने अस्तित्व और अस्मिता का अहसास होने लगा। अपने ऊपर होनेवाले अत्याचार के विरुद्ध वे आवाज़ बुलन्द करने लगे। सहन से कुछ प्राप्त नहीं होगा बल्कि अधिकार माँगने से मिलता है, इस सच्चाई से आदिवासी समझौता करने लगे, अपने हक के लिये वे लडने लगे। दुनिया के आदिवासी समाजों ने अपनी लडाई खुद ही लडी है। भूमण्डलीकरण और उदारीकरण के इस दौर में विकास और नए भारत के निर्माण के नाम पर आदिवासियों को अपनी पैतृक संपत्ति को बाज़ार के भाव बेचने और जल, जंगल एवं ज़मीन से बेदखल करने की कोशिश हो रही है। विस्थापन की समस्या और अस्तित्व के संकट से जूझ रहे आदिवासियों के पास पेट भरने के लिए कमाने का कोई साधन शेष नहीं रह गया है। ऐसी स्थिति में मज़बूरन आदिवासी प्रतिरोध के लिए विवश हैं, लेकिन इनके प्रतिरोध को नक्सलवाद घोषित कर उन्हें कुचल डालने की नीति सरकार ने अपनायी हैं।

आदिवासी फिल्मों में भी पटकथाकार ने यह प्रतिरोधी स्वर को उजागर किया है। 'रोटी', 'मृगया', 'बैंडिट क्यून', 'चक्रव्यूह' आदि में आदिवासी अपने पर किये गये अत्याचार के विरुद्ध विद्रोही हो जाते हैं। 'रोटी' फिल्म में भूख के मारे खाने की माँग करनेवाले आदिवासी को घर से बाहर करने के लिए कहते तो उसी

मालिक के थाली ज़बरदस्ती छीनकर खाना खा कर अपने विद्रोह को व्यक्त किया है। जब मिल में मजदूरों को निकालकर नये मशीन से काम शुरू करते है तो अपनी बेरोज़गार होने की प्रतिरोध मशीन तोडकर व्यक्त करते हैं। 'मृगया' फिल्म में ज़मीन्दार द्वारा अपनी बस्ती के लोगों के साथ अत्याचार करने पर सशक्त रूप में उसका विरोध करते नायक सामने आते हैं। अपनी पत्नी की इज़्ज़त लूटनेवाले ज़मीन्दार को मौत के घाट उतार कर वह अपना विद्रोह ज़ाहिर करता है। अदालत में वह अपना जुर्म कबूल कर बोला कि "मैं ने ऐसे जानवर को मारा है जो हमारे गाँव का सबसे खतरनाक खूनखार जानवर है।"[2] उसे अपने किये पर पश्चाताप नहीं बल्कि अपने समाज को बचाने के लिये उसने जो कदम उठाया है उस पर वह गर्व करता है। फिल्म के द्वारा पटकथाकार ने यही व्यक्त करना चाहा है कि नारी पर अत्याचार करनेवालों को मौत से बढ़कर कोई सज़ा नहीं है। इसलिए अपने कानून को सख्त बनाना चाहिए नहीं तो पूरे देश मुजरिमों से भर जायेगा। 'बैंडिट क्यून' में शारीरिक शोषण से प्रताडित आदिवासी स्त्री के प्रतिरोध की कहानी है। अपनी ज़िन्दगी को बर्बाद करने वाले लोगों से बदले की ज्वाला में जलकर डाकू बन जाती है। सवर्णों द्वारा समाज और स्त्री पर होनेवाले अत्याचार, शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाती सशक्त नारी पात्र के रूप में पटकथाकार ने 'फूलन' देवी को प्रस्तुत किया है। बचपन से लेकर मर्दों की काम पूर्ति की शिकार बनी मासूम आदिवासी लडकी जब अपनी सब्र की सीमा टूट जाती है तो आग बनकर सब पर बरसती है। अत्याचारियों को मौत के घाट उतारकर वह अपनी बदला पूरी करती है। प्रस्तुत फिल्म में आदिवासी लडकियों पर होनेवाले शोषण का यथार्थ चित्र प्रस्तुत है। ज़मीन्दारों और सर्वणों द्वारा आदिवासी लडकियों पर अत्याचार बरसों से हो रहा है आज भी इसमें

कोई कभी नहीं आयी है। 'चक्रव्यूह' फिल्म में आदिवासी लोगों के हक के लिए लडनेवाले नक्सलवादियों का चित्रण है। विकास के नाम पर कॉपरेट कंपनियों को करोडों रुपयों में आदिवासी ज़मीन बेचकर उनको वहाँ से विस्थापित करनेवाले सरकार और नेता के विरुद्ध संघर्ष करते नक्सलवादियों को फिल्माया गया है। अपनी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी को भी मारने के लिए नक्सलेट तैयार होते हैं यहाँ तक कि उनके खिलाफ खडे होनेवाले आदिवासी को भी वे मार डालते हैं। सरकार के धोखेबाजी के खिलाफ ही नक्सलवादियों का विद्रोह है। वे अपने ज़मीन-जंगल की रक्षा करने के लिए मर-मिटने के लिए भी तैयार होते हैं। प्रस्तुत फिल्म में सरकार और नेता लोगों की असलियत सामने आया है वह किस तरह आदिवासियों पर ज़ुल्म करता है इसका खुला चित्रण किया गया है।

वर्तमान युग में न केवल आदिवासियों का अस्तित्व संकट में है, वरन् उनकी पहचान की समस्या भी लगातार गहराती जा रही है। यह सब विकास के नाम पर ही हो रहा है इसलिए इन षड्यंत्रों का खुलासा फिल्मों द्वारा पटकथाकार ने प्रस्तुत करने का साहस दिखाया है।

सदियों से झेलती शोषण से ही आदिवासी अब विद्रोही बन गये हैं। उन्हें अपनी अस्तित्व और अस्मिता को बचाये रखने के लिए संघर्ष करना पडता है। चारों ओर से आदिवासियों पर हमले हो रहे हैं। इस कारण आदिवासी मुख्यधारा में शामिल नहीं होते। हक के लिए विद्रोह करना पडता है बिना विद्रोह के आज कुछ हासिल नहीं होता। छुप्पी से या मौन रहकर अपनी नियति पर आँसू बहाने ने से अपनी समस्या दूर नहीं होगी इसके लिए संघर्ष करना पडता है। अपने हक, अस्तित्व, अस्मिता, जंगल, ज़मीन आदि के लिए विद्रोह करना पडता है। यह विद्रोह ही उन्हें जीत की ओर ले जायेगा।

## 4.2 पटकथा का आदिवासी जीवन से नाता

आदिवासी समाज आज कई समस्याओं से घिरे हुए है। इसमें महंगई, भूमि हस्तांतरण, आर्थिक तंगी, बढती बेरोज़गारी, गरीबी, अशीक्षा, कृषि भूमि का अभाव, सामाजिक कुरीति आदि पर भी ध्यान देना आवश्यक है। आदिवासी समस्या को उजागर करने का सबसे सशक्त माध्यम मीडिया है। मीडिया द्वारा विश्वंभर में इसकी पहूँच होगा और सब लोग आदिवासी समस्या से रूबरू हो जायेंगे। मीडिया में फिल्म को प्रमुख स्थान प्राप्त है। जनसंचार माध्यम में जितना प्रभाव फिल्म की है उतनी किसी ओर माध्यम का नहीं है। इस कारण आदिवासी मुद्दों को लेकर ज़्यादातर प्रभावी ढंग से पेश करने में फिल्म ही एक सफल माध्यम है। फिल्म अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित सब लोगों पर गहरा असर छोडती है। आदिवासी मुद्दों को लेकर काफी पटकथाएँ लिखी गयी है। ज्यादातर फिल्मों में हाशिएकृत आदिवासी समाज को संपन्न समाज के रूप में प्रस्तुत किया है। इनमें कुछ पटकथाएँ जो आदिवासी जीवन के विभिन्न पहलुओं को चित्रित किया है।

### 4.2.1 बरसात

बरसात फिल्म के ज़रिए पटकथाकार ने पहाडी आदिवासियों का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। ख़ास तौर पर आदिवासी लडकियों की जीवन की यथार्थ को फिल्माया है। आदिवासी समाज के नाच और गीत को ख़ूबसूरती से चित्रित किया है। आदिवासी लडकियों पर सभ्य समाज के लडकों द्वारा हो रहे शोषण को फिल्म में पर्दाफाश किया है। आदिवासी लडकी को प्यार के मायाजाल में फँसाकर शादी के वादे करके उनसे शारीरिक संबंध जोडते है और चले जाते हैं। आदिवासी लडकी उसकी इन्तज़ार में रहती है लेकिन शहरी बाबू कभी लौटकर नहीं आते। आदिवासी

लडकियाँ भोली भाली होती है इसलिए जल्दी से बाहरवालों की बातों में आ जाती है। फिल्म में जिस मुद्दो को उठाया है यह आदिवासी समाज की यथार्थ चित्र ही है। हर आदिवासी समाज की यही विडंबना है कि बिन ब्याही माँ से समाज भरा पडा है। आदिवासी समाज की एक ज्वलंत मुद्दे की तरह आज भी इस तरह का शोषण हो रहे हैं। शहरी लोगों के लिए आदिवासी लडकी सिर्फ काम पूर्ती का साधन मात्र है।

शोषण के शिकार बनी लडकियों को ज्यादातर परिवार अपनाते नहीं है। घर से निकाल देने पर आजीविका चलाने के लिये वेश्यावृत्ति करने के लिये आदिवासी लडकियाँ मजबूर हो जाती हैं। अपने पेट पालने के लिए उसे ज़बरदस्ती ऐसे दयालों के साथ फँसाया जाता है कि वह कभी अपने घर या गाँव लौट कर नहीं आती। ऐसी लडकियों की हालत कैसी है कोई जानता नहीं। वह जीवित है या नहीं कुछ पता नहीं होगा। यह सच है कि शोषण के शिकार बनी लडकियों की ज़िन्दगी तबाह हो जाती है। अपनी मासूमियत के कारण की गयी गलती की ज़िन्दगी भर उसे भरपायी करनी पडती है। कुछ लडकियाँ इस सदर्भ से बाहर आकर नयी ज़िन्दगी शुरु करती हैं लेकिन ज्यादातर लडकियों की ज़िन्दगी किसी कोठे या वेश्यालय के चार दीवारियों में घुटकर बस्म हो जाती है। यह एक वास्तविकता है कि ऐसी लडकियों को फँसाकर पैसा कमाने के लिए आजकल आदिवासी गाँवों में सेकस रेकट के लोग जाल बिछाये खडे हैं। आदिवासी लडकी को किस तरह फँसाना है उसे अच्छी तरह मालूम है। आर्थिक तंगी से परेशान लडकियों को नौकरी के नाम पर शहर ले जाकर उससे वेश्यावृत्ति करवा कर ऐसे लोग लाखों कमाते हैं। पटकथाकार ने फिल्म के ज़रिए यही बताना चाहा है कि शहरी लोगों के जाल में पडे लडकियों की ज़िन्दगी किस तरह हो जाती है। फिल्म का नायक तो अपनी गलती सुधारकर आदिवासी लडकी को अपनाने के लिए लौटकर आता है लेकिन असल ज़िन्दगी में यह नहीं होता।

पटकथाकार आदिवासी लडकी के सच्चे प्रेम को दिखाकर दर्शकों से यही ज़ाहिर करना चाहता है कि सच्चे प्रेमी को कभी धोखा देना नहीं चाहिए चाहे वह आदिवासी क्यों न हो। आदिवासी लडकी को मासूम, भोली भाली रूप में पटकथाकार ने प्रस्तुत किया है। आदिवासी समाज में लडकियों पर होनेवाले अत्याचारों की मार्मिक चित्रण पटकथाकार ने फिल्म में किया है।

'बरसात' फिल्म में दूसरे प्रेम जोडी है-प्राण और रेश्मा। प्राण रेश्मा से सच्चा प्यार करता है। जब आधी रात को प्राण से मिलकर घर लौट आनेवाली रेश्मा से पिता यह बताते है कि गरीब आदिवासी की इज़्ज़त ही सब कुछ है- "दौलत और अमीरी कितनी ही सुन्दर न हो बेटी लेकिन इन्सान की अपनी इज़्ज़त दुनिया की सबसे खूबसूरत चीज़ है। इज़्ज़त ही वह श्रेय है जिसे आदमी अगर एक बार खो दे तो फिर दुनिया की बडी-बडी दौलत भी उसे वापस नहीं खरीद सकते और यह बात हर गरीब आदमी को याद रखनी चाहिए क्योंकि उसके पास यही तो एक खज़ाना है जिसके बलबूते पर वह अपना सर ऊँचा करके जा सकता है।"[3] प्रस्तुत कथन से पिता यही व्यक्त करना चाहते है कि शहरी लोग धोखेबाज़ होते है उसके प्यार में पडकर कई लडकियों की ज़िन्दगी तबाह हो गयी है। गरीब की दौलत उसकी इज़्ज़त है इसलिए प्यार में अंधी होकर अपने घरवालों की इज़्ज़त गाँव वालों के सामने मत उतारो।

वास्तव में पटकथाकार यही बताते है कि गरीबों के पास भले ही पैसा-जायदाद न हो मगर वह स्वाभिमानी है। उन्हें अपनी इज़्ज़त जान से भी प्यारी है। आदिवासियों के पास इज़्ज़त ही इकलौता ऐसी संपत्ति है जो वह संभालकर रखे हैं।

आज उस इज़्ज़त पर भी लोगों की बुरी नज़र पड चुकी है और आदिवासी को सभ्य समाज ने कही का नहीं छोडा है।

### 4.2.2 नागिन

पटकथाकार ने प्रस्तुत फिल्म में दो आदिवासी समुदाय के आपसी संघर्ष को व्यक्त किया है। पटकथाकार के अनुसार आपसी दुश्मनी से कोई फायदा नहीं है। दोनों को नुकासान के अलावा कुछ प्राप्त नहीं होगा। जीवन का मूल प्रेम है इसलिए सब लोगों को मिल-जुलकर रहना चाहिए। आपसी प्यार से ही ज़िन्दगी खूबसूरत बन जाती है। छल-कपट से हासिल किया गया चीज़ हमेशा के लिये नहीं रहता। पटकथाकार ने आदिवासी समुदाय के बीच के संघर्ष के द्वारा यह व्यक्त किया है कि प्यार ही वह चीज़ है जो सबके मन के विद्वेष को दूर कर सकता है। आर्थिक रूप से अधिकार पाने के लिए ही आदिवासी आपस में लडते है। यही हाल आज आदिवासियों के साथ हो रहे हैं। आदिवासियों की खनिज संपदा पर अधिकार जमा कर आर्थिक रूप से संपन्न होने के लिए गैर आदिवासी लोग उन पर जुल्म करते नज़र आते हैं। फिल्म के ज़रिए पटकथाकार यही कहना चाहता है कि आपसी दुश्मनी से ज़िन्दगी बर्बाद होती है इसलिए सबको मिलजुलकर प्यार से रहना चाहिए। दूसरों की संपत्ति लूट कर अमीर बनने से ज़्यादा एक-दूसरे के मदद करके जीवन बिताना ही ज़िन्दगी है।

फिल्म में सुन्दर गाने और जंगल की खूबसूरती को सादगी से फिल्माया गया है। हर समस्या का हल आपसी प्यार से मिटता है यही संदेश प्रस्तुत फिल्म द्वारा दी गयी है।

### 4.2.3 रोटी

फिल्म में पटकथाकार ने सभ्य समाज कहने वाले लोगों की नकाब का पर्दाफाश किया है। फिल्म में पैसों के लिए मर-मिटनेवाले भूखे भेडियों का यथार्थ तस्वीर सामने लाने का प्रयास किया है। जंगली, बर्बर, राक्षस कहनेवाले अशिक्षित आदिवासी वास्तव में कितने नेक और मासूम है यह फिल्म के ज़रिये ज़ाहिर हुआ है। आदिवासी इलाके में सोने के खान की तलाश में आये शहरी लोगों का स्वागत-सत्कार आदिवासी समुदाय खुशी से करते हैं। उन्हें किसी भी तरह का तकलीफ नहीं पहुँचाते। अपने परिवार वालों की तरह उनका देखबाल करते हैं। लेकिन आदिवासी जब शहर पहूँचते है तो उनके साथ जानवरों जैसा बर्ताव करते हैं। शहरी बाबू यह भूल गये है कि जिन्होंने उसकी मदद की उसके साथ इस तरह का सलूक करना इन्सानियत के खिलाफ है। पटकथाकार ने पैसे के आड में इन्सानियत को भूल जानेवाले आधुनिक मानव का असली चेहरे को व्यक्त किया है। शहरी लोग गरीब और अमीर में फरक करते हैं। उन्हें सिर्फ पैसे वालों से मतलब है। गरीब जीये या मरे उन्हें इससे कुछ लेना देना नहीं है। शहर से आये मेम साहब आदिवासी बालम से पूछती है कि यहाँ अमीर-गरीब नहीं है तो उसका जवाब होता है 'हमारे यहाँ इसका फसल नहीं है।' फसल को बराबर बाँटते देख्र कर पूछती है तो बालम कहता है-"हमारे यहाँ कम ज़्यादा काम करते हैं, बूढे आदमी कम काम करते हैं मगर हिस्सा सबों को बराबर मिलता है।"[4] इस बात से आदिवासी की सभ्यता और आपसी संबंध को समझ सकते हैं। आदिवासी मिलजुलकर काम करते हैं और सब का समान हिस्सा होता है। उनके यहाँ कोई भूख्रा नहीं होता सब एक-दूसरे के सहायता करते हैं।

सभ्य समाज की बात ही अलग है जेब में करोडों रख़कर भी एक वक्त की रोटी के लिये तरस रहे लोगों को एक फूटी कौडी तक नहीं देता। वहाँ गरीबों को पेट भरने के लिये जूठन ख़ाना पडता है। पटकथाकार यही सवाल पूछने है कि असल में जंगली कौन है। आधुनिक पहनावा ओढकर जानवर से भी बदतर व्यवहार गरीबों के साथ करने वाला सभ्य समाज के लोग या अर्ध नग्न कपडे पहन कर सबसे प्यार से पेश आनेवाले आदिवासी। फिल्म के ज़रिए पटकथाकार ने सभ्य समाज के काले करतूतों को व्यक्त किया है। जान-बूझकर दाम बढ़ाकर साधारण लोगों को लूटकर धन कमानेवाले पूँजीपतियों की असली चेहरे को दिख़ाया है।

आज आदिवासी जिन समस्या से गुज़र रही है उनमें से प्रमुख़ महंगाई की समस्या है। विस्थापन के कारण बेरोजगार हुए आदिवासी समाज को ज़िन्दा जला देनेवाली बात जैसी हो गयी है। पेट भर ख़ाना नहीं मिलता इसी बीच महंगाई भी आयी तो वे भूख़े मर जायेंगे। वर्तमान समाज के काला धंधा करने की आड में सबसे बुरा हाल आदिवासियों का हो रहा हैं। यही मुद्दे को पटकथाकार ने फिल्म में उठाया है। काला बाज़ार के कारण आदिवासी समाज भूख़ से मर रहे हैं। इन सबके पीछे सभ्य समाज के साज़िश शामिल है। प्रस्तुत फिल्म में आधुनिक समाज की यथार्थ छवि को ईमान्दारी से प्रस्तुत किया है।

### 4.2.4 इज़्ज़त

प्रस्तुत फिल्म में पटकथाकार ने आज की ज्वलंत मुद्दे को विषय बनाया है। नारी शोषण को केन्द्र में रख़कर फिल्म को आगे बढाया है। ठाकुर द्वारा आदिवासी लडकी की बलात्कार होती है। माँ बनने पर ठाकुर शादी से इन्कार करता है। आदिवासी लडकी से शादी करने पर ठाकुर परिवार की इज़्ज़त पर आंच आयेगा

कहकर उसे टुकराता है तो आदिवासी लडकी पूछती है कि "इज़्ज़त जब आपने मेरी इज्ज़त लूटी तब आपको अपने खानदान का ख्याल न आया। आप अमीर है आपकी इज़्ज़त है। हम गरीब है हमारी कोई इज़्ज़त नहीं है।"[5] यह सवाल पटकथाकार पूरे समाज से करता है। आदिवासी लडकी को अपने हवस के शिकार बनाते वक्त ठाकुर लोगों के इज़्ज़त पर कीचड नहीं पडता बल्कि शादी करने पर उनके इज़्ज़त मिट्टी में मिल जाती है। आदिवासी समाज पर मंडराते खतरा यही है कि उनके जंगल, ज़मीन और बहु-बेटी से किसी को कोई परेशानी नहीं है बल्कि उनकी जाति को लेकर ही भेदभाव रखते हैं। सभ्य समाज के लोग दिन-रात आदिवासी लडकी के इज़्ज़त पर खेलते हैं। मगर उन्हें अपनाने से इन्कार करते हैं। आदिवासी लडकी से बिस्तर बाँटने से उसका जाति भ्रष्ट नहीं होता लेकिन समाज के सामने आदिवासी लडकी को अपनाने से उनका जाति भ्रष्ट हो जाता है। उनके लिये वह सिर्फ भोग वस्तू है।

आदिवासी समाज के ज्वलंत मुद्दे के रूप में आदिवासी लडकी पर हो रहे शारीरिक शोषण सामने आते हैं। इसको रोकने के लिए आदिवासी लोग असमर्थ है क्योंकि सत्ता जिसके पास है वे इन सबके लिये हामी देते हैं। बडे-बडे नेता, अधिकारी, पुलिस, ठेकेदार, व्यवसायी सब इसका फायदा उठाते हैं। लोग अपनी निजी स्वार्थ के लिये आज लडकी, शराब और पैसे देकर ही अपने काम निकलवाते हैं। जंगल की लडकी और जंगली जानवर का माँस किसे पसंद नहीं सब लोग आदिवासी लोगों का गलत फायदा उठाते हैं। फिल्म के ज़रिए पटकथाकार ने वर्तमान आदिवासी समाज की दुर्दशा पर प्रश्न चिह्न लगाया है। आदिवासी लडकी की कोई अस्मिता या अस्तित्व नहीं है। वह सिर्फ नुमाइश की चीज़ बन कर रह जायेंगी। उनका वजूद आज भी किसी अंधेरे गुफा में कैद है जो सदियों से चीकता,

चिल्लाता रहा लेकिन सबने इसे अनसुना कर दिया है। सभ्य लोगों के लिए जंगली लडकी की कैसी इज़्ज़त उनके लिये वह दो कोडी की भी नहीं है। आदिवासी समाज में कर्ज ठीक समय नहीं चुकाये तो इसके बदले बहु बेटियों को उठाकर ले जाते हैं।

ज़ाहिर है कि सदियों से ही स्त्री को अपने अस्तित्व और अस्मिता की रक्षा के लिए आत्म संघर्ष करना पडा है। नारियों पर अत्याचार, बलात्कार, अपमान आदि से संबंधित घटनाएँ आज के समाज में नई घटना नहीं है। आदिवासी घने जंगल में रहते हैं। जंगल से सूखी लकडी लाने से जुर्माना भरना पडता है। आदिवासी नारियाँ और कुमारियों के लिए तो जुर्माना उनका देह से चुकाना पडता है।

वास्तव में आदिवासी नारी की सामाजिक स्थिति अत्यन्त दयनीय और करुण है। इस समाज में ठेकेदार, महाजन, पुलिस, वन अधिकारी द्वारा दैहिक एवं आर्थिक शोषण का शिकार होना पडता है।

### 4.2.5 ये गुलिस्ताँ हमारा

फिल्म में पटकथाकार ने गुलामी के जंजीर में पडे आदिवासी समाज को उजागर किया है। ताजुब की बात यह है कि इस गुलामी से वे ख़ुश है क्योंकि उन्हें यह भी पता नहीं कि लोग उसका गलत फायदा उठाते हैं। अपनी निजी स्वार्थ के लिये भोलेभाले आदिवासी को झूठे सपने दिखाकर उनसे लडाई-झगडे करवाके पूँजीपति लोग आराम से बैठकर ऐश करते नज़र आते हैं। भारत को चीन की दुश्मन बताकर उनसे गैर कानूनी काम करवाते हैं। जंगल की खनिज संपदा और वनोपज पर आदिवासी का हक नहीं है बल्कि पूँजीपति के हाथों में है। आदिवासी एक वक्त की रोटी के लिए तरस रहे हैं। भारत के लोगों के साथ काम करने के लिये गये तो

गद्धार कहकर उसे मार डालते है। जंगल, ज़मीन, झरना से संपन्न होकर भी आदिवासी इन सब से अछूते नज़र आते हैं। इन सब पर उनका अधिकार नहीं है। आदिवासी कितने मासूम है इसका पता पुलिस की बातों से व्यक्त होता है-"हमारे ही देश के कुछ गद्धार लोग अपनी ज्यादती फायदे के लिए चन्द विदेशी ताकतों के साथ मिलकर उन भोलेभाले लोगों को भटका रहे हैं। उन बदमाशों ने वहाँ के गरीब जनता को गुलाम बनाकर रखा है।"[6] इससे पता चलता है कि आदिवासी बिना सच्चाई जाने गद्धारों के हाथ की कठपुतली बन गयी है।

प्रस्तुत फिल्म में आदिवासी दूसरों के इशारों पर चलनेवाले समाज के रूप में चित्रित है। उनके लिए मर-मिटने केलिए तैयार आदिवासी यह नहीं जानते है कि उनके भौलेपन का फायदा वे लोग उठाते हैं। वर्तमान काल में भी आदिवासी की स्थिति इससे भिन्न नहीं है। आज भी गैर कानूनी ढंग से जंगल की कटाई, गांजा, जंगली जानवरों के चमडी आदि के बिक्री के लिए और उसकी कटाई के लिये आदिवासी को काम पर रखते हैं। अगर पुलिस के पकड में आये तो ज़िन्दगी भर जेल की सज़ा मासूम आदिवासी को मिलता है बाकि लोग रिश्वत देकर अपने आप को बचा लेते हैं। आदिवासी को सब जगह पर शोषण को भोगना पडता है। पटकथाकार ने अशिक्षित और मासूम लोगों से शिक्षित लोग किस प्रकार छल-कपट करते हैं इसका खुलासा किया है। अपने स्वार्थ के लिये आदिवासी को मोहरा बनाकर, एश-ओ-आराम की ज़िन्दगी जीनेवाले सभ्य लोगों पर इशारा किया है।

### 4.2.6 मृगया

प्रस्तुत फिल्म में पटकथाकार ने आदिवासी समाज की कई समस्याओं को उजागर करने की कोशिश की है। अन्य फिल्मों की तरह 'मृगया' फिल्म के

आदिवासी आर्थिक रूप से संपन्न नहीं है। वह गरीब, अनपढ, पिछडा हुआ है। आर्थिक समस्या से जूझते आदिवासी समाज का यथार्थ चित्र फिल्म के ज़रिए प्रस्तुत है। आदिवासी लोगों का जीवन कृषि और वनोपज पर निर्भर है। इसके अलावा मुर्गी, गाय, बकरा, भैंस आदि को भी पालते हैं। दिन-रात मेहनत करने पर भी पेट भर खाना उनके नसीब में नहीं है। ज़मीन्दारों के खेतों पर काम करते है खून-पसीना एक करते हैं फिर भी कम मजदूरी ही मिलते हैं। अपने घर चलाने के लिए अपनी ज़मीन गिरवी रखना पडता है। ब्याज के बोझ तले दब कर उनके ज़मीन पर ज़मीन्दार कब्जा करता है। पेट पालने के लिये ऋण भी लेना पडता है। आदिवासियों पर सदियों से इस तरह का जुल्म हो रहे हैं। इसके विरुद्ध खडे होने वाले आदिवासी को पुलिस की सहायता से मार डालते हैं या जेल भेजते हैं। आदिवासी समाज में ऐसे भी व्यक्ति होते है जो पैसा और शराब के लिए ज़मीन्दार की चप्पल चाटकर अपने ही समुदाय के खिलाफ धोखेबाजी करते हैं। फिल्म में अपने समाज और अपने लोगों के लिये लडनेवाले युवक को पुलिस के साथ मिलकर पैसे के लालच में आदिवासी युवक गोली मारते हैं। इसके बदले उसे इनाम भी मिलता है। पटकथाकार ने फिल्म में गरीबी, नारी शोषण, षड्यंत्र, अशिक्षा, संघर्ष, सूदखोरी आदि को प्रस्तुत किया है।

वर्तमान युग में भी आदिवासी की हालत में कोई बदलाव नहीं आया है। आज भी वे आर्थिक रूप से दरिद्र है। नारी शोषण तो हर मिनट में हो रहे हैं। रिश्वत लेकर और कानूनी काम करना भी गलत है लेकिन लोग पैसे की लालची है वे सब कुछ करने के लिए तैयार खडे हैं। फिल्म में भी यह देख सकते है। इस सदी के फिल्मों की विशेषता यह है कि- "सत्तर एवं अस्सी दशक की फिल्मों की कथाओं में

मुख्य रूप से, ज़मीन्दार या पूँजीपतियों द्वारा गाँव के मज़दूरों का आर्थिक और सामाजिक शोषण, अंधविश्वास और धार्मिक रूढ़िवादी मिथकों के विरुद्ध यथार्थ की पृष्ठभूमि, महानगरों मं गरीब और मध्यवर्गीय परिवारों की सामाजिक और आर्थिक दुर्दशा, मिल मज़दूरों की समस्याएँ, गाँव के सामंती शासकों द्वारा गरीब परिवारों और दलित वर्ग की महिलाओं का दैहिक शोषण, युवाओं के अन्दर बढ़ती हुई असंतोष की भावनाओं, छूत-अछूत जैसे भेदभाव, रोजगार की तलाश में महानागरों में पलायन कर रहे लोगों की व्यथाएँ आदि जैसी कई मानवीय और सामाजिक समस्याओं पर आधारित विषय वस्तु का समावेश अधिकांशतः हुआ करता था।"[7] विस्थापन ने आदिवासी को गरीबी के चरम सीमा तक पहूँचा दिया है। पेट भर खाने के लिये रोटी नहीं मिलती इस कारण भूखे-प्यासे रहने पर गर्भवती माँ के पेट में ही बच्चे मर जाते हैं। बच्चे कई तरह के बीमारियों से परेशान है। ज़मीन्दार मनमाने ढंग से ब्याज लेते हैं और चीज़ों का दाम बढाते है इस कारण से आदिवासी की ज़िन्दगी और बदतर हो गयी है। उनके काले करतूतों के विरुद्ध खडे लोगों को रास्ते से हटाते हैं। आज भी नारी शोषण ज़ोरो पर है। इनके खिलाफ केस दर्ज करने के लिए जाये भी तो पुलिसवाले भी उस लडकी की इज़्ज़त लूटते है। इसलिए आदिवासी चुपचाप सब सह रहे हैं। इस अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध उनके मन में द्वेष पनप रहे हैं और अपनी अस्मिता और अस्तित्व की खोज में वे निकली है। इसके लिए आदिवासी संघर्षरत है और नये सबेरे के आस में बैठी है।

### 4.2.7 आक्रोश

सवर्णों का वर्चस्व आदिवासियों के भीतर किस तरह का अपराध बोध पैदा करता है इसका सटीक उदाहरण है 'आक्रोश' फिल्म। सवर्णो द्वारा सामूहिक

साज़िश के शिकार बने लाहनिया पर अपनी पत्नी की ख़ून का इल्ज़ाम लगाया जाता है। वास्तव में उसकी मौत के ज़िम्मेदार सवर्ण लोग ही है। लेकिन पैसों की ताकत से वे बच जाते हैं। लेकिन सच्चाई सबको मालूम है मगर सवर्णों के ख़िलाफ आवाज़ उठाने का साहस गाँव के किसी व्यक्ति में नहीं है। अदालत में सरकारी वकील द्वारा लाहनिया से यह पूछा जाता है कि "पहले ये बताओं कि पहला ख़ून किया है तुमने? या पहला जुर्म? क्या पहले कभी हवालात आये हो? तुमने अपनी घरवाली का ख़ून क्यों किया? बदचलन थी?।"[8] इस सवाल से ही पता चलता है कि आदिवासी के प्रति उनका दृष्टिकोण कैसा है। वह पहले से यह तय कर चुका है कि ख़ूनी लहनिया ही है। लहनिया बदले में कुछ नहीं कहता क्योंकि उसे पता था कि आदिवासी होने के कारण उसको न्याय मिलने की कोई गुंजाइश नहीं है। इसलिए मौन साध लेता है। सरकारी वकील और उसके गुरु के लिये वकालत केवल धन्धा है। आदिवासी होते हुए भी सरकारी वकील के गुरु धसाने अपने बिरादरी के लहनिया से किसी भी तरह की सहानुभूति या लगाव नहीं है। उनके लिये पैसा ही सब कुछ है।

लहनिया के जेल जाने के बाद उसके बूढे पिता जंगल से पेड काटकर अपनी बेटी और पोत्ते का पेट पालता है। जंगल के ठेकेदार की नज़र लहनिया की बहन पर पडता है। सरकारी वकील के किसी भी प्रश्न का उत्तर लहनिया नहीं देता वह चुपचाप वकील की ओर ताकता रहता है। अपने पिता के मौत पर आनेवाले लहनिया यह देखता है कि सवर्णों की नज़र उसकी बहन पर है वह अपनी बहन को मार डालता है। और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगते हैं। यही उसका प्रतिरोधी स्वर है।

प्रस्तुत फिल्म में पटकथाकार ने आदिवासी समाज पर सवर्णों द्वारा होनेवाले अत्याचार को व्यक्त किया है। बेकसूर होकर भी सवर्णों के षड्यंत्र से अपने ही पत्नी

की खून के इल्ज़ाम में जेल की सज़ा मिलता है और अपनी बहन को भी पत्नी की दुरवस्था न हो यही सोचकर उसे भी मार डालता है। बहन को दूसरों के हवस का शिकार बनने से ज़्यादा मर जाना ही बेहतर है ऐसा वह समझता है।

आज़ादी के बाद भी आदिवासियों की हालत में कोई बदलाव नहीं हुआ है। आज भी सवर्णों के द्वारा पीडित और शोषित है। सवर्ण आदिवासी को गुलाम समझते है और उनके बातों का विरोध करनेवालों को झूठे आरोप में जेल की सज़ा दिलाते हैं। अपने द्वारा की गयी काले करतूतों का कसूर आदिवासी लोगों पर लगाकर सवर्ण लोग बच निकलते हैं। फिल्म में आदिवासी जीवन की त्रासद गाथा को व्यक्त किया है।

### 4.2.8 बैंडिट क्यून

आदिवासी नारी की प्रतिरोध की गाथा है 'बैंडिट क्यून'। इसमें फूलन देवी की भोगे हुए यथार्थ को फिल्माया गया है। नारी पर अत्याचार सदियों से होती चली आ रही है। जो आज भी ज़ोर पकडता आगे बढ रहा है। आदिवासी बस्ती में आदिवासी लडकी पर सवर्णों का अधिकार होता है। वह अपने मनचाहे ढंग से उस पर शोषण करते हैं कोई रोक नहीं। यदि कोई आदिवासी लडकी पंचायत में इसकी शिकायत करने गयी तो उलटे उसे बदचलन कहकर गाँवों के लोग ज़लील करते हैं। "जिस तरह से वर्तमान में लूट, हत्या और महिलाओं के साथ बलात्कार की स्थिति भयानक होती जा रही है, उसकी ज़िम्मेदारी का बहुत कुछ श्रेय फिल्म जगत को जाता है, जिसमें नग्नता, फूहटता, पाश्चात्य संस्कृति का व्यापक प्रभाव समाज को खोखला करते जा रहा है।"[9] फूलन लाखों आदिवासी लडकियों की प्रतिनिधि के रूप में चित्रित है। हर कही आदिवासी लडकियों पर इसी तरह का अत्याचार होता रहता है।

बरसों के शोषण से फूलन अपने आपको फौलाद की तरह बन जाती है। अपने पर हुए अत्याचार के विरुद्ध उसकी खून घौलने लगी उसकी जैसी स्थिति किसी अन्य आदिवासी लडकी को नहीं हो इसी सोचने उसे विद्रोही बनायी और यही विद्रोह उसे चंपल की राणी बना दी। आदिवासी पर जुल्म करनेवाले हर अत्याचारियों को वे मौत के घाट उतारने लगी। सवर्ण लोग उसके नाम से डरने लगे। जिस प्रकार उसे जानवरों की तरह सलूक किया था उससे भी भयानक रूप में उस दरिन्दों को मार गिरायी। फिल्म के ज़रिए यही ज़ाहिर किया है कि औरत के इज़्ज़त पर हाथ डालनेवाले जीने के हकदार नहीं है। ऐसे नामर्दों को मार डालना ही ठीक है।

फिल्म में विद्रोही नारी के रूप में फूलन के किरदार को उजागर किया है। आज की विडंबना यही है कि फूलन जैसी विद्रोही नारी की कमी है। आज के ज़माने में ऐसी सशक्त नारी का होना ज़रूरी है जो नारी समुदाय के लिये ही एक मिसाल बन कर रहे। नारी को देवी की तरह मानकर पूजा करती थी लेकिन आज उसकी पूजा नहीं इज़्ज़त लूटने का प्रयास ज़ारी है। बूढ़े, जवान, बच्चे किसी को भी छोडते नहीं उन्हें सिर्फ अपनी हवस मिटाना है। आजकल बूढे, जवान यहाँ तक कि छोटे बच्चे भी बलात्कार के जुर्म में पकडे जा रहे हैं। आज का माहौल स्त्री को स्वतंत्र रूप से जीने के लिये बाधक बन रहे हैं स्त्री की अस्तित्व और अस्मिता को बरकरार रखने के लिए सबसे पहले उसे अपने अधिकार के लिए संघर्षरत होना चाहिए। स्त्री को साहसी और सशक्त बनाने के लिए उसके समस्याओं का हल ढूँढना चाहिए। अपनी समस्या को खुद निपटाने की ताकत हर स्त्री में होनी चाहिए। इससे ही स्त्री समुदाय बुलंदियों को छू सकते हैं।

### 4.2.9 हज़ार चौरासी की माँ

वर्तमान युग की ज्वलंत समस्या 'नक्सलवाद' को केन्द्र बनाकर पटकथाकार ने फिल्म किया है। नक्सलवादी आन्दोलन आदिवासियों व वंचित जमातों में पनप रहे असंतोष का परिणाम है। इस असंतोष का मुख्य कारण सरकार की भूमि संबंधी नियम में सुधार की बजाय ज़मीन्दारों और दलालों को ज़मीन के स्वामित्व का अधिकार देना है। "आज हमारे समाज में जो घोर व्यवस्था-अराजकता दिखती है और राजनीति में जिस अत्याचार-भ्रष्टाचार का बोलबाला है उसके खिलाफ लडने के लिए एक बार फिर नक्सल आन्दोलन को संगाठित होने, लडाई छेडने की ज़रूरत है। यह इस फिल्म का मूल स्वर है। फिल्म की प्रासंगिकता इन्हीं संदर्भों में दिखाई पडती है। 'हज़ार चौरासी की माँ' सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और कलात्मक दृष्टि से निश्चय ही एक सफल और सार्थक फिल्म है।"[10] आदिवासी संबंधी नीतियों को लागू करने में इच्छाशक्ति की कमी तथा आदिवासियों की जल, ज़मीन, जंगल से बेदखल, विस्थापन, पलायन, घुसपैठ और उपेक्षा ने इस असंतोष को और अधिक गहरा कर दिया है। नक्सलवाद शुरु में पश्चिम बंगाल में रहा परन्तु धीरे-धीरे यह छत्तीसगढ, उडीसा, आध्रप्रदेश, झारखंड, बिहार आदि राज्यों में फैल गया है।

1970 ई के समय प्रशासन ने जिस बेदर्दी से एक नयी सोच, नयी पीढ़ी, नये वातावरण, नयी क्रांति को कुचला था, उसीको आधार बना कर महाश्वेता देवी ने बंगाल में 'हज़ार चौरासी की माँ' कृति की रचना की। इसी औपन्यासिक रचना पर निर्देशक गोविन्द निहलानी ने 'हज़ार चौरसी की माँ' फिल्म बना दिया। यह फिल्म बलपूर्वक क्रांति को कुचले जाने की सत्ता की पाश्विक रणनीति के परिणाम का साक्षात् दर्शन कराती है। यह एक ऐसी माँ की कहानी है जो 1970 ई पुलिस द्वारा

नक्सलवादियों के खिलाफ चलाये अभियान में अपने बेटे को खो देती है। वह अपने बेटे की मृत्यु पर प्रश्न उठाती है। "क्यों आस्थाहीनता पर ही व्रती की असीम आस्था हो चली?" उसे अपने बेटे की विचार धारा का पता चलता है और अंत में उसका प्रश्न होता है- "व्रती चाटर्जी की फाइल तो बंद हो गयी, लेकिन उसकी हत्या करके क्या इस आस्थाहीनता की ज्वलंत आस्था को हमेशा के लिए खत्म कर दिया गया? और इस प्रश्न का उत्तर है सिनेमा। इस प्रकार पटकथाकार इस निष्कर्ष पर पहूँचता है कि क्रांति की समाप्ति तभी संभव है जब सरकार गरीब, पीडितों को अधिकार देगी।

नक्सलवाद आज देश के विकराल समस्या बन गया है। नक्सलवाद के बीच मासूम आदिवासी की ज़िन्दगी नरक बना दिया है। पुलिस और नक्सलवादियों के बीच में पिस्ती कडी के रूप में आदिवासी जी रहे है। नक्सलवाद के नाम पर मासुम आदिवासी ही ज्यादातर पुलिस की बन्धूक का शिकार बन रहे है। है। आदिवासियों को हक दिलाने के लिए शुरू हुई नक्सलवाद आज आतंकवाद से भी आगे बढ गयी है।

सरकार ने नक्सलवाद को जड से मिटाने की कोशिश में आदिवासियों की जान चली जा रही है। नक्सलवादियों की कई माँगे है जिसे सरकार अनदेखा करके छोड देते है। सरकार ने नक्सलवाद को खत्म करने के लिए भूमि संबंधी कानूनों में सुधार करके आदिवासियों की मूल समस्या को समाप्त करने की बजाय आदिवासी को आपस में लडाकर उससे लाभ उठाना चाहते हैं। नक्सलवाद को खत्म करके अमन और शान्ति स्थापित करने के नाम पर सरकार आदिवासियों को खत्म कर रही है। नक्सलवादी किसी भी तरह के शोषण से मुक्त 'आज़ादी का राज' चाहते है,

इसके लिए वे बन्दूक की नोक से परिवर्तन के उम्मीद में यकीन रखते हैं, लेकिन वे भूल जाते है कि हिंसा से किसी समस्या का समाधान संभव नहीं, वरन् समस्याएँ और भयावह हो उठती है।

पटकथाकार ने किल्म के ज़रिए आज आदिवासी लोगों पर हो रहे अत्याचारों को किल्माया है। जो दिन-ब-दिन बढती जा रही है। इन समस्याओं को प्रभावी ढंग से उन्होंने प्रस्तुत किया है।

### 4.2.10 चक्रव्यूह

पटकथाकार ने फिल्म के द्वारे नक्सलवाद, जनजातियों की स्थिति, सरकार के बीच गठबंधन, पुलिस और कॉपरेट आपसी संबंध आदि को व्यक्त करने का प्रयास किया है। सरकार, नेता और कॉपरेट कंपनी के काले करतूतों का पर्दाफाश किया है। फिल्म में नक्सलवादी और सरकार और नेता दोनो पक्षों को दोषी हराया है। "वर्तमान समाज में 'चक्रव्यूह' यह फिल्म कठोर सच्चाई को पेश करती है। यह संदेश भी देती है कि अगर समय रहते समस्या का हल नहीं खोजा गया तो देश के दो सौ जिलों में फैला नक्सलवाद भविष्य में पूरे देश को चपेट में ले लेगा।"[11] सरकार कॉपरेट कंपनी को आदिवासी के जंगल देकर करोडों कमा रहे है और भूख से तडप रहे आदिवासी को मरने के लिए खुला छोडा है। आदिवासी की तरक्की के लिए कहकर उन्हें झूठे आश्वासन देते हैं। नक्सलवादी और पुलिस के बीच पडे आदिवासी डर कर अपना जीवन बिताते है। आदिवासी की हक, आस्मीता और आज़ादी के लिए नक्सलेटे लड रहे हैं लेकिन वही लोग मासूम आदिवासी पर भी जुल्म करते है। उनके खिलाफ पुलिस में खबर देनेवाले आदिवासी को जानवर से भी बदतर मौत देते है। युँ तो नक्सलवादी आदिवासी के लिए लड रहे हैं। सवर्ण नेता,

सरकार, पुलिस, वन अधिकारी इनके शोषण के विरुद्ध आदिवासी लोगों को जागृत करने का काम तो नक्सलवादी करते है लेकिन वही लोग आदिवासियों पर भी जुल्म करते है। सरकार के विरुद्ध जाने पर पुलिस नक्सलवादी को मार गिराते हैं। नक्सलवादी के खिलाफ रहने वाले आदिवासी को नक्सलवादी भी मारते हैं। कुछ नक्सलवादी कॉपरेट कंपनियों को धमकाकर अपने लिये बन्दूक और अन्य सामग्रियाँ खरीदने के लिए पैसा इकट्ठा करते हैं। लेकिन कुछ नक्सलेट अपने जेब भरते है। नक्सलेट से असल में आदिवासी की समस्या ओर बढ गयी है। आदिवासी की भलाई के लिए शुरू की गयी नक्सलवाद आज आदिवासी के लिए सबसे बडी खतरे के रूप में ज़ोर पकड रही है। इनके कारण आदिवासी को हर तरफ से घृणा और बेरुखी को झेलना पडता है। आदिवासी अब घर का न रहा न घाट का। पुलिस और नक्सलवादी दोनों के अत्याचारों से आज आदिवासी समाज पीडित है।

आज की दुनिया पैसों पर चलती है। जिसके पास पैसा है वही यहाँ राज करता है। उसी की चलती है। गरीब लोगों की कीमत दो कौडी की भी नहीं रह गयी। आदिवासी की इज्ज़त तो बाज़ार में नीलाम करने के लिये है। फिल्म में पटकथाकार ने पुलिस और नक्सलवादियों को ज़्यादा स्पेस दिया है। उनकी आपसी जंग को दिखाने में ज़्यादा ध्यान दिया है। आदिवासी को केन्द्र बनाकर की गयी फिल्म में आदिवासियों की समस्या से ज़्यादा नक्सलवादियों की समस्या को महत्व दिया है। पुलिस और नक्सलवादियों के बीच अटके आदिवासियों को अनदेखा किया है। असल में वही तो वास्तव में शिकार है। फिल्म में शिकार से ज्यादा शिकारियों को महत्व दिया है। नक्सलवाद वास्तव में बीमारी है ओर इस बीमारी को जड से उखाडकर फेंकना चाहिए। लेकिन सरकार ने जो नीति अपनायी है उसमें बीमारी को

नहीं बल्कि बीमार को जड से काटने की साज़िश रची है। फिल्म में नक्सलवाद, नारी शोषण, रिश्वतखोरी, संघर्ष, साज़िश आदि को दर्शाया है। लेकिन आम आदिवासी की ज़िन्दगी फीकी पड गयी है।

हिन्दी में आदिवासी केन्द्रित पटकथा पर नज़र डालने पर यह व्यक्त होता कि ज़्यादातर फिल्मों में आदिवासी समाज को संपन्न रूप में दिखाया है। उसकी एक वजह यही है कि उस समय आदिवासी समाज पर बाहरवालों का हस्तक्षेप उतना अधिक नहीं थी जितनी आज है। इसलिए आदिवासी समाज में गरीबी, बेरोज़गारी, शिक्षा आदि समस्या को लेकर कम फिल्में ही दिखाई पडती हैं।

हिन्दी फिल्मों में आदिवासी जीवन को रेखांकित करने की कोशिश तो हुई है लेकिन उसमें पूरी तरह सफल होने में नाकामयाब हो गयी हैं। पटकथाकार ने कुछ मुद्दों को ही अपने फिल्मों में उतारने की कोशिश की है। आदिवासी समाज आज़ाद थे, अपने मर्जी के मालिक थे। अपने जल, जंगल, झरने के पूजारी थे। अपनी छोटी सी खुशहाल ज़िन्दगी से वे खुश थे। आदिवासी समाज मिलजुलकर रहते हैं। एक साथ काम करते, एक साथ फसल काटते और समान रूप से बँटवारा करके जीवनयापन करते हैं। उनके मन में स्वार्थ, अहंकार आदि नहीं है, खुशी हो या गम वे एक जुंड होकर रहते हैं। प्रकृति को देवी की तरह पूजा करते हैं। वनोपज से वे ज़िन्दगी चलाते थे लेकिन कभी भी उसका गलत इस्तेमाल नहीं किया। उन्हें किसी से कोई शिकायत नहीं है, वे दिन रात मेहनत करके अपने पेट पालते हैं। उनमें पैसे की लत नहीं जो मिलता है उससे गुज़ारा करते हैं। उनकी ज़िन्दगी वनोपज, शिकार, कृषि, पशु-पालन आदि पर टिकी हुई है। ज़्यादातर आदिवासी समुदाय पुरुष सत्तात्मक है। लेकिन स्त्रियाँ घर बाहर सभी कामों में पुरुष की मदद करती है।

स्त्रियों को वधु मूल्य देकर ससुराल ले आते हैं। समाज में स्त्रियों की मान्यता होती है। कुछ समुदाय के लोग शराब के लत्ती होते हैं। आदिवासी समाज के हर समुदाय शराब बनाते हैं। नारी-पुरुष दोनों पीते हैं। ख़ुशी हो या गम दोनों मौके पर वे मदिरापान करते हैं। लेकिन उनके बीच कभी रंजिश या लडाई नहीं होती हैं। बिना किसी डर के वे जीते थे। जंगल के जानवर से भी उन्हें ज्यादा खतरा नहीं था। वे मौज-मस्ती से जीवन बिताते थे। लेकिन तकदीर ने उन मासूम आदिवासियों पर जो आग का गोला बरसाया उससे आज भी वे जल रहे हैं। उनके नसीब तब पलटा जब गैर आदिवासी उनके क्षेत्र में कदम रखे। मेहमान बनकर आये गैर आदिवासी मालिक बन गये और मासूम आदिवासी गुलाम। तब से लेकर आज तक आदिवासी समाज गुलामी के जंजीर में जकड़े पडे हैं। उनकी ज़िन्दगी तबाह हो गयी। बेबसी और लाचारी में पडे आदिवासी समुदाय धीरे-धीरे गरीबी और बेरोज़गारी की ओर बढ़ने लगे। उनके ख़ुशहाल ज़िन्दगी को ग्रहण लग गया और एक वक्त की रोटी के लिये तरसने लगे।

आदिवासी समाज को विकास के रंगीन सपने दिखाकर उनके ज़मीन छीन ली गयी। उनके जल, जंगल, झरना जिसके बदौलत आदिवासी जीते थे उन सब पर गैर आदिवासी कब्जा करने लगे। यहाँ तक की जंगल से एक सूखी लकडी भी आदिवासी उठा नहीं सकते। उनके पूरे इलाके को सरकार ने अपने अधीन कर लिया। वहाँ के खनिज संपदा, जंगल के पेड आदि से करोडों रुपये सरकारी खजाने में पहूँच गये। आदिवासी विकास के नाम पर अधिकारी गण अपने निजी जीवन का विकास करने लगे। सरकार द्वारा कई योजनाएँ आदिवासी समाज के लिए बनायी

गयी। इसके लिए केन्द्र सरकार हर बजट में करोडों रुपये के प्रावधान पास करते हैं लेकिन इसका फायदा अधिकारी वर्ग को ही मिलता है।

पटकथाकार की नज़र सिर्फ नारी शोषण, नक्सलवाद और वन दोहन पर ही टिकी है। आदिवासी के प्रति ज़मीन्दार, सरकार और वन अधिकारी का रवैया तो उन्होंने दिखाया है लेकिन उनकी असली समस्या गरीबी और बेरोज़गारी है। इसे दिखाने का प्रयास नहीं किया है। पटकथाकार की नज़र में आदिवासी समुदाय समृद्ध और संपन्न है। यह हकीकत है कि पहले आदिवासी समाज गरीबी और बेरोज़गारी के शिकार नहीं थे। उनकी ज़िन्दगी पर जब से गैर आदिवासी हस्तक्षेप करना शुरू किया तब से वे विस्थापित होने लगे और उनकी ज़िन्दगी बर्बादी की ओर बढने लगी।

आदिवासी क्षेत्र में विकास की परिकल्पना तभी संभव है, जब उस क्षेत्र की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक समझ हो। विकास कभी न खत्म होनेवाली प्रक्रिया है। विकास के सिद्धान्त में विभिन्न सामाजिक बदलाव के तरीके तथा अविकसितता को पार करने के पहलू शामिल है। जैसे-जैसे यह प्रक्रिया चलती है, सिद्धान्त भी बदलते रहते हैं। विकास शब्द को परिभाषित करना अत्यन्त कठिन है। विकास एक सतत् चलती रहनेवाली प्रक्रिया है। जितनी गहराई से सोचेंगे, उतनी ही नई समस्याएँ दिखाई देंगी। विकास में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक बदलाव व संरचनात्मक बदलाव समाहित है। वर्ल्ड डेवलपमेंट रिपोर्ट-2000, में कहा गया है-"अभिवृद्धि अनिवार्यतः छन-छन कर निचले तक पहूँच जाए, ऐसा नहीं होता, नही विकास सामान्य लोगों की आवश्यकताओं के लिए निर्देशित हो होता है। कोई एक नीति विकास को गति दे भी नहीं सकती है। दरअसल विकास

के लिए एक समेकित प्रयास की ज़रूरत है और वह भी यदि पूरी इमान्दारी एवं तत्परता से हो तब।"[12]

शिक्षा एवं स्वास्थ्य विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसकी समुचित व्यवस्था नहीं है। आज भी विकास की योजनाओं का लाभ गाँव के लोगों की पहूँच से बाहर है। शिक्षा के नाम पर कई अभियान चलाए जा रहे हैं। एन जी ओ को सिर्फ साक्षर अर्थात अपना नाम लिख सकने तक ही सिखा पा रहे हैं। इस अभियान को लोग भले ही साक्षर हो रहे हैं, पर शिक्षित नहीं कुछ ऐसे पहाडी इलाके है जहाँ स्कूल और अस्पताल बनाये नहीं और शिक्षक वहाँ जाने से मना करते हैं। डॉक्टर और नर्स भी सुदूर गाँव में चलने के लिए तैयार नहीं होते।

बहुमत आदिवासी गरीबी रेखा से नीचे रहते हैं। बेरोज़गारी के कारण पेट भरने के लिए ज़मीन गिरवी रखना पडता है और ऋण चुकाते चुकाते उनकी पूरी ज़िन्दगी कट जाती है और कर्ज के बोझ तले दब कर वे मर जाते हैं। ज़मीन्दार आसानी से ज़मीन हडप लेते हैं। नहीं तो उनके बेटे को बंधुवा मज़दूर बनकर कर्ज उतारना पड़ता है। भारत में अनुसूचित जनजातियाँ सुदूर अतीत काल से पराधीनता, परवशता एवं अमानवीय शोषण का शिकार हो रही है। वे अनेकानेक आर्थिक अभावों से ग्रस्त थे, विविध धार्मिक निषेधों का शिकार थीं, राजनैतिक अधिकारों से पूर्णत वंचित थीं तथा सामाजिक दृष्टि से दास के रूप में अमानवीय जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य थी। कुसुम नारगोयक के अनुसार "अछूतों को चाहे हिन्दू समाज के शूद्र सेवक के रूप में ही क्यों न हो, किन्तु एक विशिष्ट सामाजिक स्थान दिया गया था, परन्तु आदिवासियों का श्रेष्ठ या कनिष्ठ ऐसा कोई स्थान नहीं था। वे उपेक्षित थे। हम मनुष्य हैं- यह अहसास ही आज तक उनमें पैदा नहीं हुआ है।"[13]

आदिवासियों के विकास के लिए सरकार को सकारात्मक कदम उठाने की आवश्यकता है। इसके लिये समय-समय पर आदिवासियों की समस्याओं पर अकादमिक चिन्तन, व्यावहारिक विचार-विमर्श, तथा इस चिन्तन और विमर्श पर सकारात्मक कार्यवाही करना नितान्त आवश्यक है, तभी इस समाज की प्रगति हो सकती है।

आदिवासी विश्व का सबसे बडा जनतांत्रिक समूह है। आश्चर्य की बात यह है कि दुनिया के विकसित व अविकसित देशों को उन्होंने ही जनतंत्र सिखाया है। परन्तु खेद का विषय यह है कि वही समुदाय आज सभ्य समाज से बाहर है। आदिवासी समाज में उनकी अपनी भाषाओं, संस्कृति और लोकसाहित्य, मिथक तथा सृष्टि-कथाओं का एक अद्‌भुत एवं विशाल भण्डार है। उनकी अपनी पहचान है जिसे हम वनवासी अथवा जनजाति की संज्ञा देकर उन्हें मिटाने पर तुले हुए है। आदिवासी समाज में बराबरी से जीना चाहते हैं। ख़ुद निर्णय लेने की स्वतंत्रता चाहते हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आदिवासी संपत्ति को बटोरकर रखना नहीं जानते हैं वे सदियों से मिल जलकर बाँटकर खाना, सहयोग तथा भाइचारे में जीना जानते हैं। सदैव वनों में या पहाडों पर, निर्जन स्थानों पर रहने के कारण अन्य वर्ग के लोग पहूँच नहीं सकता। यही कारण है कि इनपर किसी सभ्यता या विकसित साधनों का प्रभाव नहीं पडा है। लेकिन ज़माना बदल गया है विकास के नाम पर विस्थापित आदिवासी समुदाय पलायन करने के लिए मजबूर हो रहे हैं। आदिवासी समाज कई समस्याओं से जूझ रही है सरकार द्वारा इसके लिये प्रयत्न जारी है लेकिन आज भी पूरी तरह सफल नहीं हो पाये हैं।

इसी माहौल में हिन्दी फिल्म दुनिया में आदिवासी समस्या को लेकर फिल्म बनाने में कुछ लोग आगे आये। पहले के फिल्म में आदिवासी को बर्बर, राक्षस के रूप में चित्रित किया गया आगे चलकर इसमें परिवर्तन आने लगे। फिल्मों में दर्शकों को लुभाने के लिये आदिवासी पात्रों को प्रस्तुत करने लगे। उनके नाच-गाने फिल्माने लगे। छोटी-तंग कपडों में नाचनेवाली आदिवासी समुदाय कई फिल्म में देख पाते हैं। केवल मनोरंजन के लिये या हास्य वर्णन के लिये इन समुदायों का चित्रण होता था। बाद में आदिवासी समुदाय पर फिल्म बनने लगी। फिल्मों में आदिवासी समाज को सुन्दर ढंग से फिल्माया भी गया। पहाडी इलाकों में रहने के कारण फिल्म में भी आदिवासी क्षेत्र का खूबसूरती के साथ चित्रण हुआ है। फिल्म में नारी शोषण, नक्सलवाद आदि को प्रमुखता दे कर फिल्म बनायी गयी है। इसमें 'चक्रव्यूह', 'हज़ार चौरासी की माँ' आदि आते हैं। वन दोहन को लेकर बनायी गयी फिल्म में 'मधुमती', 'कर्तव्य', 'जनम-जनम' आदि फिल्म आते हैं। 'मृगया' और 'रोटी' में पूँजीपति शोषण और गरीबी को चित्रित किया है। बाकि फिल्में नारी शोषण पर केन्द्रित हैं।

आदिवासी समाज की असली समस्या को पटकथाकार ने फिल्म में प्रस्तुत नहीं किया। गरीबी और बेरोज़गारी के मुख्य कारण गैर आदिवासी लोगों का आदिवासी समाज में हस्तक्षेप ही है। शिक्षा का अभाव भी इन समुदायों को पीछे धकेलने की मुख्य वजह बन गयी है। इन सब की ओर ध्यान दिये बिना स्त्री शोषण और नक्सलवाद को लेकर फिल्म बनाना आदिवासी समाज की असली समस्या को छुपाना है। सिनेमा हमेशा से संस्कृति का परिचायक रही है। क्योंकि सिनेमा सामाजिक-सांस्कृतिक विषयों को लेकर पर्दे पर प्रस्तुत करता है। पिछले एक दशक

में बनने वाली हिन्दी सिनेमा स्त्री जीवन की समस्या को केन्द्र में रखकर बनाया गया है। इसमें 'बैंडिट क्यून', 'हज़ार चौरासी की माँ' आती है। इन फिल्मों में स्त्री जीवन को सशक्त रूप में अभिव्यक्त किया गया है।

सिनेमा का संसार भी पुरुष वर्चस्व वाला संसार है यह वर्चस्व उनके संख्या बल के कारण नहीं बल्कि सिनेमा के संसार में जारी मूल्य व्यवस्था के कारण है। हिन्दी सिनेमा में स्त्री पर्दे के पीछे कई रूपों में आई है परन्तु स्त्री समस्याओं को इन्होंने सिर्फ छू कर ही छोड दिया। आज की हिन्दी सिनेमा ने तमाम तरह की पुरानी रूढ़ियों को तोडा है। अपने समय की नष्ट को पहचानते हुए उसे प्रोत्साहित किया है और अपने लिए दर्शक तैयार किया हैं। नारी को 'देवी' की पृष्ठभूमि से निकाल कर उसे (शो-पीस) बनाने में सिनेमा की बडी भूमिका रही है और इसका सबसे बडा कारण है लैंगिक असमानता। 'बैंडिट क्यून' में भी स्त्री को इसी प्रकार चित्रित किया है। फूलन देवी के यथार्थ जीवन पर आधारित है फिर भी दर्शक को बटोरने के लिए फिल्म बनायी है।

**निष्कर्ष**

पटकथाकार को अपनी लेखनी में काल्पनिकता से ज़्यादा वास्तविकता को प्रस्तुत करना चाहिए था इससे ही आदिवासी जीवन की यथार्थ पेशकश दर्शक अपनायेंगे। आदिवासी जीवन एक सुन्दर कहानी की तरह कानवास पर उतारने वाले चित्र नहीं है बल्कि सदियों की यातना, शोषण, विस्थापन, परायेपन, गरीबी, अत्याचार से लडकर आगे बढने वाले यथार्थ जीवन की दिलकश नज़ारे हैं। उनकी पीड़ा को उसी प्रकार पर्दे पर उतारना चाहिए। उसमें काल्पनिकता के मिलावट की ज़रूरत नहीं है। आदिवासी की समस्या को उजागर करने की सशक्त माध्यम सिनेमा

ही है। सिनेमा केवल मनोरंजन के लिए मात्र नहीं है। उसमें लोगों की दृष्टिकोण को बदलने की ताकत होनी चाहिए। सिनेमा एक ऐसी जादुई छडी है जिससे हर व्यक्ति को मायालोक में पहूँचाते हैं। पटकथाकार को इस छडी का सही तरीके से प्रयोग करना चाहिए। हाशिएकृत आदिवासी समाज के व्यथा-कथा को सच्चाई के साथ पर्दे पर दिखाना चाहिए। सभ्य समाज के लोगों के द्वारा किये जाने वाले दरिन्दगी को दर्शकों के सामने दिखाने का साहस दिखाना चाहिए। इससे लोग आदिवासी समस्या से रूबरू हो जाये। जब तक उनकी असली समस्या का समाधान नहीं होता तब तक आदिवासी समुदाय हाशिएकृत ही रहेंगे। पटकथाकार को यह ध्यान रखना चाहिए कि फिल्म केवल पैसा कमाने का ज़रिया नहीं है बल्कि समाज के प्रति अपने दायित्व को व्यक्त करने का महत्वपूर्ण साधन भी है। इसलिए अपनी लेखनी का फायदा उठाते हुए आदिवासी जीवन का यथार्थ पेशकश करना चाहिए।

## सन्दर्भ सूची


1. अग्रवाल, प्रहलाद- हिन्दी सिनेमा बीसवीं से इक्कीसवी सदी तक (साहित्य भंडार, 2009), पृ.398
2. विनोद आर्य-फिल्मों में सामाजिक मुद्दों के प्रभाव ('मीडिया विमर्श', सिनेमा विशेषांक-3, जून-2013), पृ.44
3. मृणाल सेन- मृगया (1976)
4. राज कपूर- बरसात (1949)
5. महबूब- रोटी (1942)
6. टी.प्रकाश राज- इज्ज़त (1968)
7. आत्मराम- ये गुलिस्ताँ हमारा (1964)
8. प्रसूत सिन्हा- भारतीय सिनेमा : एक अनंत यात्रा, पृ.126-127
9. गोविन्द निहलानी- आक्रोश (1980)
10. राकेश यति- दलित शेष समाज बनाम सरकार ('मीडिया विमर्श', सिनेमा विशेषांक-3, जून-2013), पृ.84
11. डॉ. सी. भास्कर राव- फिल्म और फिल्मकार, पृ.43
12. विनोद आर्य- फिल्मों में सामाजिक मुद्दों के प्रभाव ('मीडिया विमर्श', सिनेमा विशेषांक-3, जून-2013), पृ.48
13. रमणिका गुप्ता- आदिवासी : विकास से विस्थापन, पृ.135

JYOSMI. K. “A STUDY OF TRIBAL LIFE IN HINDI SCREENPLAY”. THESIS. DEPARTMENT OF HINDI, UNIVERSITY OF CALICUT, 2018.

पाँचवाँ अध्याय

# आदिवासी उत्थान : पटकथा की भूमिका

## 5.1 आदिवासी उत्थान

आज़ादी के तत्काल बाद भारत के संविधान में सामाजिक, शैक्षणिक एवं आर्थिक रूप से सर्वाधिक कमज़ोर जिन दो वर्गों या जाति समूहों को चिह्नित किया गया था, उनमें आदिवासी वर्ग आगे है, जिसे संविधान में 'अनुसूचित जनजाति' कहा गया है। "दूर-दराज अंचलों का निवासी आदिवासी अपग्रत रहा है। जंगल ही उनकी संपत्ति है, उस पर अन्य किसी का अधिकार उन्हें स्वीकार नहीं। खानखदान, बिजली संयंत्र, पर्यटन केन्द्र, नहर-तालाब निर्माण, कारखानों आदि व्यवसायों का निर्माण आदिवासी अंचल में हो रहा है। जंगल कटाई करके सैकड़ों एकड भूमि की खरीदारी होने से वनोपजाों पर निर्भर आदिवासियों के व्यवसाय बंध हो रहे हैं।"[1] छह दशक की लोक कल्याणकारी, लोकतांत्रिक एवं निष्पक्ष सवैधानिक व्यवस्था के उपरान्त भी वर्तमान में आदिवासी वर्ग देश का सर्वाधिक शोषित, वंचित समूह बना हुआ है या सच्चे अर्थ में बना दिया गया है। देश के मूल निवासी आज अपने ही देश में परायेपन, तिरस्कार, शोषण, अत्याचार, धर्मान्तरण, अशिक्षा, नक्सलवाद, माओवाद, सांप्रदायिकता और सामाजिक एवं प्रशासनिक दुर्दशा के शिकार हो रहे हैं। आदिवासी वर्ग की मानवीय गरिमा को हर रोज़ तार-तार किया जा रहा है। इसके उपरान्त भी आदिवासी वर्ग की चुप्पी को नज़र अंदाज़ करने वाली अफसरशाही और राजनैतिक जमात को आदिवासियों के आहत-अन्तरमन में सुलग रहा गुस्सा तथा आक्रोश दिखाई नहीं पड रहा है।

बेशक शोषक राजनेताओं तथा अफसरों के कॉर्पोरट घरानों के हाथों बिक जाने के कारण आदिवासी वर्ग को आज देश में नक्सलवाद से जोडकर देखा जा रहा है, जो बेहद दुखद, घृणास्पद और चिन्ताजनक बात है। बल्कि यह संपूर्ण आदिवासी

वर्ग को हिंसक के रूप में दुष्प्रचरित करने की एक सोची-समझी साजिश है। लेकिन इस साजिश का आदिवासी वर्ग को एक परोक्ष किन्तु सतही लाभ भी होता हुआ दिख रहा है। वह यह कि आज छोटे-बडे सभी राजनैतिक दल और केन्द्र तथा राज्य सरकारों को यह बात समझ में आने लगी है कि आज़ादी से आज तक उन्होंने भारत के मूल निवासियों के साथ केवल अन्याय ही किया है। जिसकी भरपाई करने के लिए अब उन्हें कुछ न कुछ करना ही होगा। बेशक यह लोकतांत्रिक विवशता ही है लेकिन राजनीति में लोकतांत्रिक विवशताएँ अनेक बार सूचना का अधिकार जैसे कानून सशक्त बनवाने तक में समर्थ हो जाती हैं।

आज का बदलता परिवेश आदिवासी को अनेक मुसीबतों के सामने लाकर खडा कर दिया है। एक ओर आधुनिक सभ्यता, प्रौद्योगिकी और विकास की ओर आकृष्ट हो रहे है तो दूसरी ओर उनकी सांस्कृतिक धरोहर, परंपराएँ, रीतिरिवाज़ उन्हें पीछे को खींच रहे हैं। सभ्यता का पूरा लाभ उठाकर आदिवासी मुख्य धारा में आना तो चाहते हैं लेकिन अपनी संस्कृति को त्यागकर अपनी बुनियादी जडों को काटना नहीं चाहते।

शिक्षा के ज़रिए उनके सोच-विचार में काफी बदलाव आये हैं। डॉ.पी.आर. नायडू के अनुसार- "आदिवासियों के शोषण, पिछडेपन, गरीबी का प्रमुख कारण उनका अशिक्षित होना ही है।"[2] आज के आदिवासी नौजवान सरकारी, गैर सरकारी प्रतिष्ठानों में कार्यरत हैं। वे शहरी मध्य वर्ग की तरह खान-पान, आचार विचार, वेशभूषा, और जीवन शैली अपनाई हुई हैं। जो अपने आदिवासी स्वरूप को छोडकर आधुनिक बनने की होड में है। और अपने माता-पिता, संबंधियों को पिछडा एवं हेय समझकर अपने समाज और परंपरा से मुक्त मानने लगे हैं। लेकिन आज भी

ज्यादातर आदिवासी समुदाय अभाव में जी रहे हैं। वे गरीबी में पैदा होते हैं और गरीबी में ही मरते हैं। विकास के नाम पर आर्थिक समस्या और बढ गयी है इससे आदिवासी जीवन बद से बदतर हो गया है।

आज़ादी मिलते ही रामराज्य की कल्पना की थी लेकिन वह पानी में खींचा हुआ लकीर जैसी बन गयी। प्रशासन से जुडे नेतृत्व वर्ग स्वार्थ में अंधा हो गया था। उन्हें सिर्फ अपनी कुर्सी और एश-ओ-आराम की ज़िन्दगी से मतलब था। जनता गरीबी, महंगाई, बेरोज़गारी, भूखमरी से तडप रहे हैं लेकिन प्रशासकों को कोई परवाह नहीं है। पूँजीपातियों ने सरकार को अपनी मुट्ठी में किया है। इसलिए वह मनमाने ढंग से गैर कानूनी काम करते हैं। सरकार या अधिकारी वर्ग चुपचाप यह तमाशा देख रहे हैं।

प्राचीन काल से लेकर आज तक मानव सभ्यता का विकास होता आया है लेकिन विकास के नाम पर आदिवासियों की श्रम शक्ति छीन ली गयी। जो आदिवासी अपने स्वतंत्र अस्तित्व के बलबूते पर मेहनत करते थे, उन्हें दूसरों पर आश्रित होने पर मजबूर किया गया। उन्हें रोजगार अनुदान का लालच देकर उनका जल, ज़मीन, जंगल सब कुछ छीन लिया गया। उन्हें विस्थापित करके भिखारियों की तरह सडक पर खडा कर दिया और उन्हें पलायन करने के लिये बाध्य बना दिया।

जनसंख्या की हिसाब से लगभग 8.08 प्रतिशत लोग जनजाति वर्ग के अन्तर्गत आते हैं उनमें नब्बे प्रतिशत आदिवासी कृषि पर निर्भर है। इसके आलावा शिकार, पशु पालन, वनोपज आदि से भी अपनी जीविका चलाते हैं। आदिवासियों से विकास के नाम पर उनके पूर्वजों की ज़मीन-जंगल छीन ली गयी तो उनकी आर्थिक स्थिति खराब होने लगी।

आदिवासी भूमि खनिज संपदा से संपन्न है। इसलिए सभी की नज़र वन भूमि पर आकर टिकने लगे। कॉपरेट कंपनी से करोडों रुपये प्राप्त करके सरकार ने आदिवासी भूमि को उनके हवाले कर दिया। अपने ही ज़मीन से बेदख़ल आदिवासी कहीं का नहीं रहा। कोयला खदान, बाँध आदि से सरकार और बडे-बडे कंपनियों को करोडों रुपयों का मुनाफा मिला तो आदिवासी वहाँ मज़दूर बनने के लिये मजबूर हो गये। आदिवासी मूलतः वनोपज पर निर्भर था सरकार ने वन नियम लागू करके उन सब पर अधिकार जमा लिया। वनोपज की बिक्री करके आदिवासी अपनी जीविका चलाती थी लेकिन सरकार ने इस पर रोक लगा दिया और कम मजदूरी में आदिवासी को काम करने के लिये विवश किया। इसके बदले उन्हें सामाजिक सुरक्षा का लाभ भी प्राप्त नहीं है।

अंग्रेज़ी शासन काल 1865 में वन कानून बनाने से वनोत्वाद पर सरकारी नियंत्रण स्थापित हो गया। इस कानून की आड में वन अधिकारी आदिवासियों पर शोषण और अत्याचार करने लगे। डर के मारे आदिवासी जंगल छोडकर जाने लगे और वनोपज और शिकार पर टिकी उनकी आर्थिक जीवन का संतुलन बिगड गया। साथ ही उनकी आवासीय व्यवस्था पर भी ज़ोर का धक्का लगा।

जनजातियों की आवासीय समस्या को बढाने का मुख्य कारण वन आधिकारियों के कूट नीति ही है। उन्होंने ही आदिवासियों को जंगल से बाहर निकाला है। अफसरशाही तथा संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण वनोपज पर जो रोक लगा दी इससे संपूर्ण जनजाति समुदाय को घोर संकट में आकर खडा कर दिया। आवश्यक वस्तुओं का संकलन करने के लिए किसी वन अधिकारी की स्वीकृति पाना जनजातियों के लिये बहुत कठिन कार्य बन गया। आदिवासी आवासीय समस्या को

सुलझाने में वन विभाग बाधक रहा है। अपने घर की मरम्मत करने के लिए लकडी की ज़रूरत होती है लेकिन वन अधिकारी सूखी लकडी लेने पर भी आदिवासी को प्रताडित करते हैं। ऐसी स्थिति में आदिवासी की ज़िन्दगी और भी कठिन हो रही है।

आज़ादी के सात दशक बाद भी देश के आदिवासी उपेक्षित, शोषित और पीडित नज़र आते हैं । राजनीतिक पार्टियाँ और नेता आदिवासियों के उत्थान की बात करती हैं, लकिन उस पर अमल नहीं करते। आज इन क्षेत्रों में शिक्षा, स्वस्थ्य, रोज़गार एवं विकास का जो वातावरण निर्मित होना चाहिए, वैसा नहीं हो पा रहा है। अक्सर आदिवासियों को अनदेखी कर तत्कालिक राजनीतिक लाभ लेने वाली बातों को हवा देना एक परंपरा बन गयी है। इस परंपरा को बदले बिना देश का वास्तविक उन्नति की ओर अग्रसर नहीं किया जा सकता। देश के विकास में आदिवासियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है और इस भूमिका को सही अर्थ में स्वीकार करना वर्तमान की बडी ज़रूरत है।

मूल बात है कि आज भी आदिवासी दोयम दर्जे के नागरिक जैसा जीवनयापन करने के लिए विवश है। जबकि केन्द्र सरकार आदिवासियों के नाम पर हर साल करोडों रुपये का प्रावधान बजट में करती है। इसके बाद भी सात दशाक में उनकी आर्थिक स्थिति, जीवन स्तर में कोई बदलाव नहीं आया है। स्वास्थ्य सुविधाएँ, पीने का साफ पानी, शिक्षा आदि मूलभूत सुविधाओं के लिए आज भी वे तरस रहे हैं।

वास्तव में जल, जंगल और ज़मीन के मालिक है आदिवासी, इससे इनका अस्तित्व जुडा हैं। यहीं नहीं, ज़मीन के अंदर के खनिज के मालिक भी आदिवासी है। भारत सरकार एवं प्रान्तों की सरकारें आदिवासियों के हितों की बात तो बहुत करती

हैं, लकिन इनके भविष्य को बचाने के लिए गंभीरता नहीं दिखाती। आदिवासी समुदाय की ज़मीनों पर ही आज सरकारों की नज़रें टिकी रहती हैं। इसी कारण से जंगल उजड रहे हैं, आदिवासी अपनी ज़मीन से बेदख़ल हो रहे हैं। सरकार यह मानने के लिये तैयार ही नहीं कि आदिवासियों का भविष्य ज़मीन से जुडा है। आज़ादी के बाद देश का विकास हुआ, लकिन इसकी बडी कीमत आदिवासियों ने चुकायी।

आदिवासी समुदाय को बाँटने और तोडने के व्यापक उपक्रम चल रहे हैं। आदिवासी के उज्वल एवं समृद्ध चरित्र को धुंधलाकर तेज़ी से बढते आदिवासी समुदाय को विखंडित करने का यह बिख़रावमूलक दौर देश के लिए गंभीर समस्या बन सकती है। हमें यह भी समझना होगा की एक मात्र शिक्षा की जागृति से ही आदिवासियों की स्थिति में कोई बदलाव नहीं आयेगा। इसके लिए उनके मूल समस्याओं का हल ढूंढना होगा। आदिवासियों की विडंबना यह है कि जंगलों के औद्योगिक इस्तेमाल से सरकार का ख़जाना तो भरता है, लेकिन इस आमदनी के इस्तेमाल में स्थानीय आदिवासी समुदायों की भागीदारी को लेकर कोई प्रावधान नहीं है। जंगलों के बढते औद्योगिक उपयोग ने आदिवासियों को जंगलों से दूर किया है। आर्थिक ज़रूरतों की वजह से आदिवासी जनजातियों के एक वर्ग शहरों की ओर रूख़ बदलने लगे है। विस्थापन और पलायन ने आदिवासी सस्कृति, रहन-सहन, ख़ान-पान, रीति-रिवाज और संस्कार को प्रभावित किया है। गरीबी, अशिक्षा और बेरोज़गरी के चलते आज का विस्थापित आदिवासी समाज, ख़ासतौर पर नई पीढी अपनी संस्कृति से लगतार दूर होती जा रही है। आधुनिक शहरी संस्कृति के संपर्क ने

आदिवासी युवाओं को एक ऐसे दोराहे पर खडा कर दिया है, जहाँ वे न तो अपनी संस्कृति बचा पा रहे हैं और न ही पूरी तरह मुख्यधारा में ही शामिल हो पा रहे हैं।

आज जब भी और जहाँ भी विकास की बात होती है, आदिवासी सहम और डर जाते हैं। विकास होना चाहिए, लेकिन आदिवाससियों को उजाडने की कीमत पर नहीं। आदिवासियों का एक वर्ग पढ-लिख कर नौकरियों में भी आया है। लेकिन ये पूरे आदिवासी समाज का चेहरा नहीं है। बहु संख्यक आदिवासी आज भी बदहाल हैं। वन अधिकार कानुन आया, लेकिन उसको लागु करने में राज्यों ने रुचि नहीं दिखायी। इसलिए आदिवासियों को जंगल में अधिकार नहीं मिला है। आज आदिवासी समुदाय अपनी पहचान, भाषा, सस्कृति, संसाधनों पर हक के लिए अन्य समस्याओं के साथ संघर्ष कर रहा है।

आज देश के आदिवासियों के पक्ष को सुनने के लिए कोई भी तैयार नहीं है। अनेक आदिवासी क्षेत्रों में तो आदिवासियों का संहार कर उनके अस्तित्व को ही मिटा दिया है। जिन क्षेत्रो में भी आदिवासी बचे हुए हैं, उन्हें अपने अस्तित्व के लिए व्यापक संघर्ष करने पड रहे हैं। कुछ क्षेत्र एवं आदिवासी समुदायों में स्थितियाँ इनकी खराब हो चुकी है कि वे नक्सलवाद की तरफ बढ रहे हैं।

हालांकि आज अनेक राजनैतिक दल, कुछ राज्यों की सरकारें तथा केन्द्र सरकार भी आदिवासियों के उत्थान के प्रति संजीदा दिखने का प्रयास या नाटक करती भी दिख रही है, लेकिन हकीकत यह है कि इन सबकी ओर से आदिवासियों के विकास तथा उत्थान के बारे में सोचने का काम वही भाडे के लोग या दलित वर्ग के लोग कर रहे हैं, जिनकी वजह से आज आदिवासी वर्ग की ये दुर्दशा हुई है। सरकार या राजनैतिक दल या स्वयं आदिवासियों के नेताओं को वास्तव में कुछ

करना है तो उन्हें आदिवासियों की प्रगति के उन अवरोधकों को सकारात्मक तरीके से पहचानना होगा जो उनके विकास, उत्थान एवं प्रगति में सर्वाधिक बाधक रहे हैं। इनमें से कुछ का यहाँ पर उल्लेख किया जा रहा है।

### 5.1.1 मीडिया

मीडिया द्वारा बिना किसी पुख्ता सबूत के बिना बनायी जानी वाली खबरें आदिवासी को नक्सलवाद और माओवाद से जोडने के कारण भारतीय के मन में आदिवासी के प्रति नफरत पैदा करते हैं। जिसके फलस्वरूप आदिवासी दोहरी तकलीफ में पड गया है। एक और नक्सली और माओवादी उनके शोषण कर रहे हैं और दूसरी ओर सरकार और आम भारतीय आदिवासी को नक्सलवाद और माओवाद का समर्थक मानने लगे है।

दूसरी ओर मीडिया में देश के हर हिस्सा, हर वर्ग, हर विषय और हर प्रकार की समस्याओं पर रोज़ चर्चाएँ करते रहते हैं लेकिन आदिवासियों के बारे में कोई सार्थक या सकारात्मक चर्चा नहीं होती। अगर चर्चा होती भी तो उसमें आदिवासी लोगों की भागीदारी नहीं होती इसी भेदभाव के कारण आदिवासी की असली दुख, वेदना, पीडा, दर्द और पिछडेपन के सही कारण आज भी दबे पडे हैं।

### 5.1.2 नेतृत्व का अभाव

आज़ादी के बाद आदिवासी वर्ग में कई नेता उभर कर आये जिसमें विधायक, संसद और मंत्री तक मौजूद हैं। लेकिन वे अपनी पार्टी की कठपुतली बनकर रहते हैं और आदिवासी उत्थान से ज्यादा अपनी कुर्सी बचाने में प्रयत्नरत हैं। विडंबना की

बात यह है कि दलितों की भाँति आदिवासियों को डॉ भीमराव अंबेडकर जैसा आदिवासी नेता नहीं मिल पाया जो उनके लिए सच्चा आदर्श बन सके।

### 5.1.3 संयुक्त संगठनों एवं मंचों पर दलितों का कब्जा

संविधान में दलित और आदिवासी को समान दर्जा देने पर दोनों ने मिलकर संयुक्त संगठन और मंच का आरंभ किया। लेकिन प्रारंभ से ही उस पर दलित का ही कब्ज़ा रहा क्योंकि संख्या और कुटिलता के बलबूते पर दलितों ने कभी आदिवासी को उभर कर आने का मौका नहीं दिया। दलित आदिवासियों के प्रति मगरमच्छ की आँसू तो बहाते हैं लेकिन दलित नेतृत्व वर्ग ने कभी भी आदिवासी वर्ग को प्रेरणा या मार्गदर्शन नहीं दिया। जिस कारण आदिवासी वर्ग आगे बढने के बजाय लगातार पिछडता गया।

### 5.1.4 विस्थापन की समस्या

आदिवासी समाज पूर्णतः प्रकृति पर निर्भर है इसलिए ही दूर दराज जंगलों में वे रहते हैं। वे प्रकृति के पूजारी हैं। जब से उनके पहाडी इलाकों के खनिज संपदा पर सरकार की नज़रें पडी उसी दिन से आदिवासी की खुशहाल ज़िन्दगी पर घोर संकट गिर पडा।

बिना किसी योजना के कॉपरेट कंपनी के इशारे पर नाचनेवाले सरकार ने आदिवासियों को उनके ज़मीन से बेदखल किया। परिणाम स्वरूप आदिवासियों को जंगल से निकालकर सडकों पर खडा कर दिया। पुनर्वास के नाम पर आदिवासियों के साथ खिलवाड करके विरोध करनेवालों को पुलिस के मदद से रौंदा कुचला भी गया।

### 5.1.5 धार्मिक भावनाओं से खिलवाड

आदिवासी विकास के नाम पर उनके प्राकृतिक संपदा को लूटने के लिए आदिवासियों के जल, ज़मीन, जंगल उजाड कर उनके स्थान पर बडे-बडे बाँध तो बनाये गये लकिन इस दौरान सरकार और धन के भूखे भेडिये यह भूल गये कि आदिवासियों के खेत, उनके हज़ारो वर्ष पुराने आराध्य स्थल और उनके पूर्वजों की समाधि स्थल वहाँ मौजूद थे। जिनसे आदिवासी का अटूट धार्मिक तथा भावनात्मक रिश्ता रहा है। आदिवासी को हिन्दुत्व का अटूट हिस्सा बताने वाली ताकतें भी आदिवासियों के इस धार्मिक एवं भावनात्मक संहार में शामिल रही।

### 5.1.6 आरक्षित पदों पर ईसाइयों का कब्ज़ा

सरकारी शिक्षण संस्थाओं और सरकारी सेवाओं में जनजातियों के लिए निर्धारित एवं आरक्षित पदों का बडा हिस्सा धर्म परिवर्तन के बाद भी आदिवासी वर्ग में गैर कानूनी रूप से शामिल पूर्वोत्तर राज्यों के अंग्रेज़ी में पढनेवाले ईसाई आदिवासियों को मिल रहा है। लेकिन डॉ. रमणिका गुप्ता के अनुसार- "ईसाइयों ने आदिवासियों का मनुष्य का दर्जा देकर पढना-लिखना सिखाया।"[3] जो व्यक्ति अपनी जाति, धर्म, आस्था समाप्त कर सबसे विद्रोह कर धर्म परिवर्तन कर चुका हो, उसे आदिवासी का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता लेकिन उच्च पदों पर बैठनेवाले अधिकारी वर्ग सब कुछ जानते हए भी अनदेखा करके इस नाइन्साफी को आदिवासी के ऊपर थोपते हैं।

### 5.1.7 अपने ही लोगों द्वारा तिरस्कार

आज भी आदिवासी उच्च स्तर की सरकारी सेवाओं से वंचित हैं। वह पाने के लिए राजनीतिक ताकत भी उनके पास नहीं है। इस कारण हर सरकारी विभाग में आदिवासियों पर जुल्म हो रहे हैं। गैर आदिवासी अफसरों के साथ आदिवासी लोग भी अपने लोगों के साथ यही बर्ताव करते हैं। अधिकांश आदिवासी अफसर अपनी निजी विकास और एश-ओ-आराम की ज़िन्दगी को ही महत्व देते हैं। अपने समाज के लिए वे कुछ भी करने के लिये तत्पर नहीं हैं। कुछ अफसर ऐसे भी है जो अपने समाज के विकास एवं कल्याण के लिए प्रयत्नरत है लेकिन अधिकारी वर्ग इसके विरोध करते है या उनके काम में बाधा डालते हैं।

### 5.1.8 राजनीतिक दलों से दूरी

आदिवासी आज भी दूर-दराज जंगलों में रहने के लिए विवश है। हर तरफ से उन्हें शोषण का शिकार होना पडता है। जंगल में रहने के कारण राजनेताओं से सीधा संबंध नहीं होता केवल मतदान के समय ही वे लोग इन लोगों के संपर्क में आते हैं। वोट के लिये बडे-बडे नेता झूठे वादे करके बरसों से आदिवासी को धोखा देते है। राजनीतिक क्षेत्र में अपनी पहचान बनाने में आदिवासी आज तक कामयाब नहीं हो सका है।

### 5.1.9 उत्पाद का सही कीमत न मिलना

आदिवासी परंपरागत ज्ञान और हुनर के आधार पर अपनी जीविका चलाते हैं। लेकिन उनके उत्पाद मोटे रकम में बाहर बिकते है मगर आदिवासी को इसका

सही धाम नहीं मिलता। उनके उत्पाद महंगे होते हुए भी आदिवासी को इनसे लाभ नहीं मिलता।

### 5.1.10 संकुचित मानसिकता

ज्यादातर आदिवासी संकुचित मानसिकता रखने वाले होते हैं। इस कारण बाहर के लोगों के साथ घुलमिल ने में वे असमर्थ होते हैं। आदिवासी के विकास के लिए जो स्कूल खोली गयी है उसमें गैर आदिवासी लोग ही अध्यापक बनकर आते हैं। आदिवासी बोलियों से वे अन्जान होते हैं इसलिए शिक्षा देते वक्त आदिवासी बच्चे इनसे फायदा उठाने में असमर्थ होते हैं। अध्यापक भी इस पर ध्यान नहीं देते कि बच्चों के समझ में आ रहे है या नहीं, कुछ अध्यापकों को छोडकर अधिकांश को सिर्फ तनखाह से मतलब है। आदिवासी बच्चे शिक्षा स्तर पर पिछडा ही रह जाते हैं।

उपर्युक्त वजह के अलावा भी आदिवासियों के विकास या प्रगति में बाधक अनेक राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याएँ भी हैं। जिनका समाधान अभी तक नहीं हुआ है। भारत को भले ही समृद्ध विकास शील देश की श्रेणी में शामिल कर ले, लेकिन आदिवासी आज भी मुख्यधारा से कटकर नज़र आते हैं। इसका फायदा उठाकर नक्सली उन्हें अपने साथ जोड लेते हैं। आदिवासियों के विकास के लिए राज्य सरकार द्वारा कई योजनाएँ बना रही हैं। लेकिन आदिवासी की परंपरा, संस्कृति और जीवनशैली को बिना जाने-समझे किये जाने वाली योजनाएँ आदिवासियों के लिए कभी लाभदायक नहीं होंगे बल्कि योजना बनानेवालों को ज़रूर फायदा मिलेंगे। महंगाई के इस ज़माने में आदिवासी दैनिक उपयोग की वस्तुएँ भी खरीद नहीं पाते इसलिए उनकी असली समस्याओं को समझकर उनके लिए योजना बनाने से ही आदिवासी विकास होगा।

गरीबी हटाओ का नारा सादियों से सुनते आ रहे हैं मगर समाज की आर्थिक स्थिति में कोई बदलाव अभी तक नहीं हुआ है। राजनीतिक पार्टियों के नेता आदिवासियों के उत्थान की बातें अक्सर करते हैं लेकिन उस पर अमल नहीं करते। आदिवासी आज नक्सलवाद से जूझ रहे हैं। आतंकवाद तो आयादित है, जबकि नक्सलवाद देश की आंतरिक समस्या है। यह समस्या देश को अंदर ही अंदर घुन की तरह घोघला करती जा रही है।

आज आदिवासी महंगाई, बेरोज़गारी, भूमि हस्तांतरण, आर्थिक तंगी, भ्रष्टाचार, गरीबी, मदिरापान, अशिक्षा, कृषि भूमि के अभाव आदि समस्याओं से गुज़र रहा है। लेकिन पटकथाकार ने इस विषय को ख़ास महत्व नहीं दिया है। उनके लिये नारी शोषण और नक्सलवाद ही आदिवासी समाज की समस्या के रूप में उभर आयी है। आदिवासी पर केन्द्रित जितने भी फिल्में बनी हैं उन सब में बलात्कार को प्रभावी ढंग से पेश किया गया है। आज 'बलात्कार' कान्सर की तरह फैल रहे हैं। ज़माना आज इतना ख़राब है कि लोग कामासक्ति में इतना डूब गया है कि उसे तृप्त करने के लिये किसी का ख़ून भी करने के लिए तैयार होते हैं। वे लाश को भी नहीं छोडते उससे भी हवस मिटाने का पागलपन चढा है। हाली में समाचार पत्र के सुर्ख़ियों में आया है कि अब लडकी ही नहीं लडके भी शोषण का शिकार होते हैं। आशा रानी व्योरा कहती है- "आदिवासी समुदायों में स्त्रियों का सामान्य सामाजिक स्तर शिक्षित और उन्नत समाज से कही ऊँचा है।"[4] मनुष्य अब जानवर से भी बदतर हो गये हैं आज जानवर को भी कामपूर्ती के लिए शोषण करते नज़र आते हैं। देश आज बडी विपत्ति से गुज़र रहे हैं। मीडिया के प्रभाव से गन्दी फिल्में देख्कर बच्चे बिगड रहे हैं उनका भविष्य जेल के सलाख़ों के पीछे सडती हुई देख्र पाते हैं।

आदिवासी समाज भी इससे बचकर नहीं निकल पायेंगे। इन भेडियों के हाथों से कोई नहीं बच सकता। आर्थिक तंगी के कारण आदिवासी समाज दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं। मज़बूरी में उन्हें पलायन करना पडता है। अपने घर परिवार को छोडकर बाहर जाने के लिये बाध्य हो रहे हैं। इस तरह देखा जाय तो आदिवासी समाज कई समस्याओं से गुज़र रहे हैं। उनकी नियति भी कितना भयंकर है। जिस ज़मीन से, खनिज संपदा से गैर आदिवासी लोग करोडों कमाते हैं और उस ज़मीन के असली मालिक एक वक्त की रोटी के लिये शहर काम करने के लिए बेबस हो जाते हैं।

## 5.2 आदिवासी उत्थान : पटकथा का योगदान

भारत के विकास में आदिवासी समुदाय का महत्वपूर्ण योगदान है। आदिवासी समाज को साथ में रखकर ही विकास को परिपूर्ण आकार दिया जा सकता है। जहाँ कहीं भी आदिवासी समुदाय की उपेक्षा एवं उत्पीडन होता है तो वह राष्ट्र के लिये शर्मनाक है। आदिवासी उपेक्षित होकर भी, संघर्षरत रहकर भी, देश और समाज के निर्माण में अपना योगदान प्रदान करता रहा है। भारतीय समाज व्यवस्था ने आदिवासी के साथ भी छल किया है। भारत में जितने भी आदिवासी समुदाय हैं, सभी की अपनी-अपनी संस्कृति और सामाजिक परंपराएँ हैं। सदियों से पीडित, उपेक्षित आदिवासी समाज जाग चुके हैं। अब वह अपनी जडें खोजने लगा है। वह अपनी भाषा को सुरक्षित रखना चाहता है। गैर आदिवासी आज भी उन्हें जंगली मानकर क्रूर व्यवहार करता है। दुर्भाग्यवश उसे जंगलों से भी खदेडा जा रहा है।

सरकार द्वारा जनजातियों के उत्थान हेतु विभिन्न प्रकार के कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया गया है जिससे उनका विकास हो। आदिवासी विकास और सुरक्षा के लिए कई आयोजन शुरू किया है। इस संबंध में के.बी सक्सेना कहते हैं कि- "कोई भी व्यवस्था आदिवासियों को सुरक्षा नहीं दे पाई है। आदिवासियों में व्यवस्था के साथ जोड-तोड करने की योग्यता भी नहीं है। जिसकी मर्जी में आता है, वो शोषण करता है। उनकी माँग बस इतनी है कि हमारे वातावरण के अन्दर जो संसाधन है, उन पर हमें नियंत्रण दीजिए यह मेरे परंपरागत अधिकार के अन्तर्गत आता है।"[5]

इस तरह आदिवासियों का मनोबल टूटता जा रहा है। दस्तावेज़ के अभाव से उनका जल, ज़मीन और जंगल पर उनका अधिकार छीना जा रहा है। आदिवासी धीरे-धीरे समझ रहे हैं जान रहे हैं मगर वे मज़बूर हैं। आर्थिक तंगी, परंपरा और सामाजिक रूढियों से जकडे रहने के कारण उन्हें रास्ता नहीं मिल रहा है। आज़ादी के बाद गाँवों में ईसाई मत के प्रचार और प्रभाव में आकर ही आदिवासी धर्मान्तरण कर चुके हैं। इसका मुख्य कारण आर्थिक तंगी, प्रलोभन, नासमझी और तात्कालिक आवश्यकत पूर्ति है। आज भी चिकित्सा के नाम पर झाड-फूक, पारंपरिक रूप में प्रसव कराती दाइयाँ आदिवासी समाज में मौजूद हैं। दरअसल शिक्षित शहरवासियों ने आदिवासियों को ठगा हैं। उनके भोलेपन का फायदा उठा रहे हैं। उनके नाम की विकास की जो धाराएँ छूटीं, उसे अपने तक ही बाँध भी उन तक पहूँचने ही नहीं दी और उन्हें हमेशा की तरह बेवकूफ बना दिया गया।

आदिवासी समाज को केन्द्र बनाकर आदिवासी और गैर आदिवासी लोगों ने कई रचनाएँ की हैं। इससे आदिवासी समाज की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करें

और बरसों से दासता और दलन से पीडित समुदाय को विकास की ओर ले जाने में मदद मिलें। रचनाकार ने मार्मिक ढंग से आदिवासी समुदाय को कागज़ पर उतारा भी है। लेकिन साहित्य केवल शिक्षित लोगों के दायरे में ही रहते हैं। इस कारण अशिक्षित लोग इनसे लाभ उठाने में असमर्थ होते हैं। ऐसी माहौल में आदिवासी समाज की यथार्थ जीवन की प्रस्तुती सशक्त रूप में करने योग्य एक ही माध्यम सिनेमा ही है। वाकई में सिनेमा ने समाज के कई अनछुए पहलुओं को छुआ है, उन्हें करीब से जानकर पर्दे पर उतारा है। फिल्म ने समाज के व्यक्ति, समुदाय, वर्ग को न केवल अपने में समाहित किया वरन् उन्हें समृद्ध भी किया है। सिनेमा ने न केवल भारतीय संस्कृति को बचाया है बल्कि विदेशों में भी हमारी संस्कृति को फैलाया है और विदेशी द्वारा सराहा गया है। सिनेमा समाज में व्याप्त रूढियों, परंपराओं और अंध विश्वासों को प्रस्तुत करके उसमें बदलाव लाने में सफल हुआ है।

सिनेमा ने समाज के विकास में अपनी अहम भूमिका निभाई है। समाज में होने वाले परिवर्तन को रूपहले पर्दे पर प्रस्तुत करके समाज में नयी जान डालने में सफल हो गया है। भरत कुमार के अनुसार -"भारत में सिनेमा सबके मन को छूने की क्षमता रखता है, वह इसलिए कि सिनेमा हमारे अन्तर दबी भावनाओं, इच्छाओं व आशाओं से मेल खाता है, सिनेमा के पर्दे पर जनमानस अपने आप को, अपने ज़िन्दगी को अपनी खुशी व गम को देखते हैं और उसमें डूब जाते हैं। यहाँ हमारी विविधता में ही समानता है और यही मंत्र हमारा सिनेमा अपनाने है। यह भारतीय सिनेमा का ही कमाल है कि अब हर शादी में चाहे वह बंगाल में हो या चेन्नई में मारवाड में हो या उडीसा में, लोगों के पाँव थिरकते है तो पंजाबी भांगडा गानों पर।"[6]

सिनेमा ने समाज में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक समस्याओं को पर्दे पर पेश करके उन समस्याओं का हल भी बताया है। सिनेमा में केवल स्त्री को ही नहीं बल्कि दलित और आदिवासी को भी फिल्माने का ज़िम्मा उठाया है। इन हाशिएकृत वर्गों के प्रति सभ्य समाज की जो दृष्टिकोण हैं उसे बदलने में पहला कदम उठाया हैं। उसमें एक हद तक फिल्म सफल भी हुई हैं।

आदिवासी जैसे हाशिएकृत समुदाय को फिल्म के चकाचौंध भरी दुनिया में सशक्त रूप से प्रस्तुत करने की ताकत केवल पटकथाकार में होता है। उनकी प्रतिभा और कौशल से आदिवासी समुदाय को नयी सिरे से प्रस्तुत करके सभ्य समाज की जो जातिगत भेदभाव है उसे मिटाना चाहिए। आदिवासी के प्रति सभ्य समाज का जो दृष्टिकोण है उसमें बदलाव होना चाहिए। इसके लिए आदिवासी समाज के जीवन की वास्तविकता को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करने की ज़रूरत है। साहित्य जिस प्रकार समाज में व्याप्त अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध अपनी लेखनी से विद्रोही भावना को उजागर करते हैं उसी प्रकार पटकथाकार को भी अपनी लेखनी से दर्शक को जागृत करने की क्षमता होना चाहिए। आदिवासी समाज की असली समस्या को पर्दे पर उजागर करने की कोशिश करनी चाहिए। आदिवासी कोई जंगली, राक्षस या बर्बर नहीं है उनकी अपनी पहचान है, अस्तित्व है। अपनी भाषा, संस्कृति, सभ्यता का पालन करने वाला है। आदिवासियों का बडा हिस्सा विस्थापन के कारण शहरों में मजदूरी करते हैं। मीडिया अब कॉपरेट कंपनी के इशारों पर नाचनेवाली कठपुतली बन गये हैं। इसलिए मीडिया आदिवासी के पक्ष में कभी नहीं बोलेंगे। आदिवासियों की परंपरा, लोककला, लोकगीत, नाच-गाना आदि का गुणगान तो करते हैं लेकिन उन्हें बचाने के लिए कोई अपनी आवाज़ बुलंद नहीं करते। इसी के

चलते आज आदिवासी अस्मिता खतरे में है। उनके खिलाफ सोची-समझी साज़िश रच रहे हैं। इन सब समस्याओं से आदिवासी समाज आज पीडित है। आदिवासी समाज की वास्तविकता को पटकथाकार सशक्त रूप में फिल्म में प्रस्तुत करके आदिवासी समाज को नयी चेतना दे सकते हैं।

समाज में मौजूद हर समस्या को पटकथाकार अपनी रचनाओं द्वारा उजागर करते हैं। लेकिन आदिवासी को लेकर फिल्म बनाने में सब तैयार नहीं है। इसका मुख्य कारण व्यावसायिक दृष्टि से ऐसे फिल्मों का सफल होने का कोई गारेन्टी नहीं होती। इसलिए निर्माता पैसा खर्च करने के लिए तैयार नहीं होता क्योंकि मुनाफे लिये ही वह सिनेमा बनाता है। समाज की समस्या के हल ढूँढने के लिए नहीं। गिने-चुने पटकथाकार ने ही आदिवासी विषय को लेकर फिल्म बनाने में साहस दिखाया है। पटकथाकार ने अपनी लेखनी से समाज में व्याप्त कुरीतियों, अत्याचारों को दर्शक के सामने प्रस्तुत करके उन्हें जागृत कराने का प्रयत्न किया है। आदिवासी समाज को जानने-समझने के माध्यम के रूप में पटकथा लेखन उभर कर आया है। कुछ ऐसी समस्याओं को पटकथाकार ने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है जिससे दर्शक को गहरे रूप में प्रभावित किया है उन्हें द्रवित किया हैं।

### 5.2.1 नारी की बदलती छवि

पटकथाकार ने अपनी जादुई लेखन से नारी के प्रति समाज का जो दृष्टिकोण है उसे बदलने का प्रयास किया है। खास तौर पर आदिवासी नारी के प्रति सभ्य समाज की जो धारणा है उसे मिटाने की कोशिश की है। "फिल्म को लोकप्रिय बनाने और उन्हें अधिक से अधिक दर्शकों तक पहूँचाने के लिए मसाला फिल्में बनाई जाती है। जिसमें आइटम साँग से लेकर गाली गलौच तक को अपनाया जा रहा है।

हिंसा, अपराध और चालू संगीत के जरिये उन्हें अगली सीटों को भरने लायक बनाने का प्रयास किया जाता है।"[7] सभ्य-शिक्षित समाज के लिए आदिवासी नारी मनोरंजन की वस्तू के रूप में ही प्रस्तुत हुई थी। दर्शक उन्हें सिर्फ काम उत्तेजना का माध्यम के रूप में ही देखा-परखा है। हिन्दी या अन्य भाषा की फिल्मों में भी आदिवासी नारी हमेशा छोटे कपडों में दिखायी देती है। जो दर्शकों के दिल लुभाने या मनोरंजन के लिये रखा गया था। पटकथाकार ने दर्शकों की इस गलत धारणा को तोडा है। नारी को हमेशा शारीरिक और मानसिक रूप से कमज़ोर दिखाकर मरदों के पीछे खडे रहनेवाली किरदार के रूप में ही फिल्माया गया था। नारी को अबला के रूप में पति की सेवा करती उनके हर जुल्म को सहती चुपचाप अपने परिवार के नियम का पालन करती दिखाई पडती है। उसका कोई अस्तित्व या अस्मिता नहीं है। स्त्री केवल दर्शकों के मनोरंजन की वस्तू मात्र बनकर रहती थी। लेकिन पटकथाकार ने 'चक्रव्यूह', 'बैंडिट क्यून', 'हज़ार चौरासी की माँ' आदि फिल्मों में नारी को विद्रोही रूप में प्रस्तुत किया है। वे अबला नहीं है, उसकी अपनी अस्मिता और पहचान है। मरदों के तरह हर समस्या को निपटाने की ताकत और साहस नारी में भी है।

'चक्रव्यूह' फिल्म में जूही की किरदार निभानेवाली नारी पात्र साहसी और विद्रोही है। नक्सालेट टोली के एकमात्र स्त्री वही है। ज़मीन्दारों द्वारा अपने परिवारवालों के साथ हो रही अत्याचार से तंग आकर घर छोडकर आती है और अपने आपको नक्सलवाद की ओर मोडती है और अपने अंतर की सारी पीडा, घृणा को मिटाने के माध्यम के रूप में नक्सलवाद को लेती है। वह न किसी गोली से डरती है न किसी बंब से। अपने दुश्मन के साथ मिले हुए व्यक्ति का गर्दन काटकर

हत्या कर लेती है। पटकथाकार ने सशक्त नारी पात्र के रूप में उसे चित्रित किया है। 'बैंडिट क्यून' में फूलन नारी समाज के लिए एक मिसाल ही है। सदियों से झेल रही अत्याचार से विद्रोही बनी नारी है 'फूलन' उसे कई लोगों द्वारा बलात्कार का शिकार होना पड़ता है। बचपन में पति से, बडी होने पर सभ्य समाज के लोगों द्वारा इसमें पुलिस, ज़मीन्दार, डाकू सब मौजूद हैं। सवर्णों द्वारा दिन-रात सामूहिक बलात्कार का शिकार होना पडता है। लेकिन उसने रोती-बिलकती अपनी जान गवायी नहीं बल्कि शेरनी की तरह अवतरित हुई और उन भेडियों को मार कर लाश के ढेर लगा दी। नारी हर जुल्म को चुपचाप सहकर रहनेवाली नहीं। ज़माना बदल गया है। अपने पर हो रहे शोषण के विरुद्ध खडे होने की साहस हर औरत में होनी चाहिए। 'हज़ार चौरासी की माँ' इसमें अपने बेटे की मौत के पीछे के वजह को जानने के लिये तैयार एक माँ की मार्मिक कहानी है। वह साधारण मध्यवर्ग की परिवार में रहती है। नक्सलेट के नाम पर मारे जानेवाले अपने बेटे की सच्चाई ढूँढने के लिये जानेवाली सशक्त नारी पात्र के रूप में उसे चित्रित किया है। बेटे की मौत के गम में न पडकर अपनी तसल्ली के लिए सच्चाई जानने के लिए निकलती है। और सच्चाई जानकर अपने बेटे पर गर्व करती है।

प्रस्तुत तीनों फिल्मों में समाज ने ही स्त्री को विद्रोही बनने के लिए मज़बूर किया है। अत्याचार सहते-सहते उनके अन्तर की ज्वाला और दहकने लगे हैं। पटकथाकार ने यह ज़ाहिर किया है कि नारी अबला नहीं उसकी ताकत का अंदाजा मरदों को नहीं है इसलिए ही वे नारी के ऊपर अत्याचार करते रहते हैं। आज का ज़माना बहुत खराब है इसलिए हर औरत को अपनी ताकत को समझना चाहिए। चुपचाप शोषण झेलने की समय निकल गया है। एक नया सूर्योदय ज़िन्दगी में

आया है। उस प्रकाश को हमेशा के लिए अपने अंदर खींचना चाहिए जिससे अपनी अस्मिता और अस्तित्व का पहचान बनाये रखे। ज़िन्दगी में कई ऐसे मोड आते हैं कि जो हमें झकझोर करती निकल जायेंगो लेकिन निराश होकर आत्महत्या करना बेवकूफी है। निडर होकर उससे लडना चाहिए अंतिम जीत हमारी ही होगी। आज साहसी और विद्रोही स्त्री ही चैन से जी सकते हैं इसलिए नारी शक्ति को पहचानकार अपने आप को बदलना चाहिए।

पटकथाकार ने फिल्मों द्वारा नारी के प्रति समाज का जो दृष्टिकोण है उसे गलत साबित करने में कामयाब हो गया है। नारी शक्ति की पहचान दिखाया है। ऐसी फिल्म समाज पर गहरा प्रभाव छोड जाती हैं। इस तरह के फिल्म ही नारी शक्ति को उजागर करने में सफल होंगे। बरसों से मरदों के ज़हन में स्त्री के प्रति जो भावना थी उसे गिरा दिया है। नारी केवल भोगवस्तु नहीं यह बात सबको समझना चाहिए। नारी माँ, बहन, प्रेमिका कोई भी हो उसका मान-सम्मान करना चाहिए। नारी ही हमारे वंश को आगे बढाती हैं। बिना स्त्री के यह दुनिया नहीं होगे। इसलिए हर व्यक्ति को नारी का आदर करना चाहिए।

### 5.2.2 नक्सलवाद की विभीषिका

नक्सलवाद कम्यूनिस्ट क्रान्तिकारियों के उस आन्दोलन का अनौपचारिक नाम है जो भारतीय कम्यूनिस्ट आन्दोलन के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ। नक्सल शब्द की उत्पत्ति पश्चिम बंगाल के छोटे से गाँव नक्सलबाडी से हुई है जहाँ भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के नेता चारू मजूमदार और कानू सन्याल ने 1947 में सत्ता के खिलाफ एक सशस्त्र आन्दोलन की शुरूआत की। सामाजिक जागृति के लिए शुरू हुए इस आन्दोलन पर कुछ साल बाद राजनीति का वर्चस्व बढने लगा और आन्दोलन जल्द

ही अपने मुद्दों और रास्तों से भटक गया। अब यह लडाई ज़मीनी लडाई न रहकर जातीय वर्ग की लडाई के रूप में बदल गयी। नक्सलवाद एक विचारधारा है। जो मुख्यतः वर्ग संघर्ष पर आधारित है। यह पिछडे, दलितों वे शोषितों का शोषक वर्ग के विरुद्ध किया गया एक सशक्त विद्रोह हैं, जिसका मूल कारण सामाजिक आर्थिक शोषण है।

डॉ. अशोक कुमार सिंह के अनुसार "नक्सलवादी वास्तव में ऐसे निराश एवं हताश व्यक्ति है, जो कि यह मान बैठे है, कि देश की सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं का समाधान लोकतांत्रिक तरीके से होना संभव नहीं है। उनका यह मानना है कि अंतिम लक्ष्य बिन्दु तक पहूँचने के लिए जन विद्रोह की आवश्यकता अनिवार्य है।"[8]

नक्सलवादियों से सबसे बडा खतरा आदिवासियों को है। आज नक्सलवाद को आदिवासी से जोडकर देखने का प्रयास हो रहा है। नक्सलेट के नाम पर कई मासूम आदिवासियों की जान जा रही हैं। नक्सलवादी अपनी ढेरा आदिवासी क्षेत्र में डालते हैं और गरीबी और बेरोज़गारी से परेशान आदिवासी को डरा-धमकाकर अपने सेना में शामिल करते हैं। पुलिस भी आदिवासी लोगों को नक्सलेट नाम देकर शोषण करते हैं। आदिवासी स्त्री का शारीरिक शोषण भी ये लोग करते हैं। आज आदिवासी समुदाय भीषण स्थिति से गुज़र रहे हैं। दोनों तरफ से आदिवासी पर अत्याचार होते हैं। आज मुख्यधारा के बहसों में ऐसा बताया जाता है कि आदिवासी लोग नक्सली हैं, जो देश का विकास नहीं चाहते हैं और राजसत्ता के खिलाफ बंदूक उठाए हुए हैं। आदिवासी पहचान को अब नक्सलवाद के रूप में स्थापित कर दिया गया है। जबकि हकीकत यह नहीं है। नक्सल आन्दोलन से

मात्र। एक प्रतिशत आदिवासी ही जुडे हैं। इसलिए राजसत्ता पर बैठे लोगों को समझना चाहिए कि नक्सलवाद और आदिवासी एक दूसरे के पर्याय नहीं है। कई आदिवासी मज़बूरी और डर के कारण नक्सलवादी के दल में शामिल हो रहे हैं।

इसी सच्चाई पर प्रकाश डालने के लिए पटकथाकार ने अपनी लेखनी चलायी है। 'मृगया', 'चक्रव्यूह', 'लाल सलाम', 'हज़ार चौरासी की माँ' आदि फिल्मों में नक्सलवाद को प्रमुखता दी है। 'मृगया' फिल्म मे पूंजीपतियों के खिलाफ लडने के वजह से आदिवासी युवक मारे जाते हैं लेकिन विडंबना यह है कि अपने ही जाति के द्वारा वे मारे जाते हैं। पैसे की लालच में अपने ही समुदाय के खिलाफ जानेवाला एक लालची के कारण मारा जाता है। वे पुलिस के साथ चलने के लिए तैयार थे लेकिन पैसे की लालच में आदिवासी युवक अपने ही गाँव वालों के ऊपर गोली चलाता है। पटकथाकार ने यह व्यक्त किया है कि पुलिस और नक्सलवादी की यही नीति है कि आदिवासी को आपस में लडाकर उससे फायदा उठाना। इसके लिये आदिवासी को पैसा और शराब का लालच देते हैं नहीं तो डरा कर अपनी बात मनवाता है। बाकी तीनों फिल्मों में अपने ऊपर हुई ज्यादती और दूसरों पर हो रहे अत्याचार को देख कर जान-बूझकर नक्सलवाद में शामिल हो गये हैं। पूर्व कुलपति डॉ.के.जयशंकर का विश्वास है कि- "नक्सलवादी पूरी तरह से समाप्त नहीं हो सकते। उनकी गतिविधियों से ग्रामीण क्षेत्रों में जाग्रति अवश्य लाई है और आदिवासी तथा दलितों के अधिकारों के रक्षा के लिए सिर उठाने का साहस दिखाया है।"[9] 'चक्रव्यूह' में पुलिस का एजेन्ट बनकर नक्सलवादियों की टोली में घुसकर उनकी हर प्लान को चौपट करता है। बाद में पुलिस द्वारा नक्सल टोली की लडकी पर बलात्कार करते देख कर वह खुद को नक्सलवादियों में शामिल करते हैं और

पुलिसवालों से लडते हैं। इस फिल्म में भी पुलिस और नक्सलवादियों के शिकार बन रहे आदिवासी को दिखाया है। नक्सलवादी आदिवासी युवक को बेरहमी से मार डालता है। क्योंकि वे पुलिस की सहायता कर रहे थे। 'लाल सलाम' और 'हज़ार चौरासी की माँ' दोनों फिल्मों में नक्सलवाद को न्याय की लडाई समझकर उसमें शामिल होनेवाले युवक को दिखाया है। 'लाल सलाम' में बलात्कार के शिकार होने से नक्सलवादी बने लडकी की कहानी भी हैं।

दोनों फिल्मों में नौजवानों का नक्सलवाद की ओर आकर्षण को दिखाया है। अत्याचार देखकर खून खौलना स्वाभाविक है क्योंकि वे नौजवान है। लोगों पर हो रहे शोषण, अत्याचार देखकर अपनी मर्जी से वे नक्सलवादी के दल में शामिल होते हैं।

पटकथाकार ने प्रस्तुत फिल्मों के ज़रिए यह ज़ाहिर किया है कि नक्सलवाद में पडकर कितने नौजवान अपनी ज़िन्दगी बर्बाद करने पर तुले हैं। गोली-बारुद से कुछ हासिल नहीं होता। शासन के विरुद्ध काम करने-वालों की स्थिति जानवर से भी बदतर हो जाती है। देश के नियमों का पालन करना चाहिए इसके विरुद्ध जानेवालों को सज़ा भी भुगतना पडेगा। अपने ऊपर होनेवाले अत्याचारों का विरोध करना चाहिए। स्त्री की शारीरिक शोषण करने वालों को तो खुले आम मौत के घाट उतारना चाहिए। नक्सलवादी के नाम पर आदिवासी ही अत्याचार का शिकार हो रहे हैं। उन्हें पुलिस और नक्सलवादी दोनों का अत्याचार सहना पडता है। मासूम आदिवासियों को ही इसका शिकार होना पडता है। फिल्म के ज़रिए यह भी व्यक्त किया है कि पुलिस कितने भी नक्सलवादी को मार गिराये उसके बदले हज़ारों आयेंगे और अपने लक्ष्यप्राप्ति तक लडेंगे। एक नयी उजाले की तलाश में वे आगे बढ़ रहे

हैं। फिल्मों में आज की ज्वलंत समस्या को उजागर किया है। यह आदिवासी के लिये ही नहीं बल्कि पूरे देश के लिये ख़तरा है। इसे ख़त्म करने के लिये पहले उनकी समस्याओं का समाधान होना चाहिए तभी इसका अंत होगा।

### 5.2.3 विस्थापन की जकडन

आदिवासी समाज आज झेल रही विकराल समस्या के रूप में विस्थापन का महत्वपूर्ण स्थान है। आदिवासी समाज को हर कहीं विस्थापित किया जा रहा है। एक गैर सरकारी संगठन के रिपोर्ट के अनुसार "भारत के विभिन्न भागों में माओवादियों द्वारा की जा रही उग्रवादी गतिविधियों के कारण चार लाख से भी अधिक आदिवासियों को विस्थापन का शिकार होना पडा है।"[10] आदिवासियों के जंगलों, ज़मीनों, गाँवों संसाधनों पर कब्जा कर उन्हें दर-दर भटकने के लिये मज़बूर करने के पीछे हमार सरकारी व्यवस्था रही है। ख़निज उत्पादन, बाँध निर्माण आदि के वजह से ही विस्थापन की समस्या शुरू हो गयी। विस्थापन एक ऐसी त्रासदी है जो औरतों और बच्चों के जीवन को भी अंधेरा बना देती है। विस्थापन के कारण आदिवासी जीवन नेस्तनाबूद हो गया है। विस्थापन से आदिवासी अपने पुरखों के विरासत में मिली-ज़मीन को छोडकर जाने लगे हैं। पुनर्वास के नाम पर आदिवासी को धोख़ा दे रहे हैं। बरसों से रहे अपने जंगल, ज़मीन से आदिवासी को विकास के नाम पर ख़देड रहा है।

पटकथाकार ने 'जनम-जनम', 'चक्रव्यूह' आदि फिल्मों में विस्थापन की समस्या को प्रस्तुत किया है। 'जनम-जनम' में ठाकुर द्वारा आदिवासी के ज़मीन छीन कर उन्हें वहाँ से निकाल देते हैं। ठाकुर पूरे जंगल के राजा बनकर राज करते हैं।

'चक्रव्यूह' फिल्म में कॉपरेट कंपनी से पैसे लेकर आदिवासी जंगल पर कब्जा करते हैं। अपने कारोबर शुरु करते हैं। इसके लिये सरकार, नेता, ठेकेदार, वन अधिकारी, पुलिस सब इनके साथ है। आदिवासी विकास के नाम पर ही यह सब होता है लेकिन आदिवासी गरीबी और बरेज़गारी में ही रहते हैं। पटकथाकार ने आदिवासी जीवन का यथार्थ चित्र को प्रस्तुत किया है। अपने ही ज़मीन से विकास के नाम पर बेदख़ल हो रहे मासूम आदिवासियों का मार्मिक चित्रण है। सरकार और पुलिस जबरदस्ती उन्हें वहाँ से निकालते हैं। पुनर्वास के नाम पर उन्हें अपने ज़मीन से बाहर करते हैं और सडक पर आ जाने पर आदिवासी समाज पलायन करने के लिये मजबूर हो जाते हैं। पुनर्वास के नाम पर करोडों रुपयों की योजनाएँ तो बनता है लेकिन आदिवासी इन सबसे वंचित है।

इसी सच्चाई को पटकथाकार ने अपने दर्शकों को दिख़लाया है। वे चाहते हैं कि आदिवासी की वास्तविक समस्या को लोग समझे उससे अवगत हो जाए। आज विस्थापन के ख़िलाफ आदिवासी संघर्षरत है। उनके ज़मीन को पाने के लिये वे लड रहे हैं। इस स्थिति में इन भोलेभाले आदिवासी की फायदा उठाने के लिए नक्सलवादियों का दल आते हैं और उनके मज़बूरी का फायदा उठाते हैं। विस्थापन से उनकी आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक परिवेश में परिवर्तन आ जाते हैं। यह परिवर्तन उनके ज़िन्दगी को ही बदल देते हैं। इसी विस्थापन से तंग आकर वे आगे बढने की कोशिश में है लेकिन हर तरफ से उन्हें शोषण और धोख्रा ही प्राप्त होते हैं। सभ्य समाज के स्वार्थ के लिये ख़ुशहाल ज़िन्दगी जीनेवाले आदिवासी के मुँह से निवाला तक छीन कर ले गया है। ऐसी दुर्दशा से आज आदिवासी समाज जीवन

बिना रहा है। पटकथाकार ने अपनी रचना द्वारा इसका खुलासा किया है और दर्शक को भी आदिवासी की असली ज़िन्दगी से वाकिफ़ कराया है।

### 5.2.4 अधिकारियों के नकाब का पर्दाफाश

आज आदिवासी समाज की जो दुर्गति बनी है इसमें अधिकारी वर्ग की अहम भूमिका है। अधिकारी वर्ग ने ही अपनी स्वार्थ लाभ के लिए आदिवासी समाज को खदेडा है। करोडों पाने की लालच में एक समुदाय को ही तबाह कर दिया। उनके लिये आदिवासी केवल जंगली है सभ्य समाज के लोग आदिवासी को मानव के रूप में भी स्वीकृत नहीं करता। सभ्य समाज के लिये प्राचीन काल से लेकर अब तक आदिवासी जंगली, असभ्य, राक्षस के रूप में चित्रित है। उन्हें आदिवासी या उनके समाज से कोई लगाव नहीं है केवल उनकी खनिज संपदा से मतलब है। इसलिए आदिवासी को अपने जाल में फँसाकर उनकी ज़मीन हडप ली और बेरहमी से उन्हें निकाल फेका। इसके खिलाफ खडे रहनेवालों को पुलिस ने नक्सलेट नाम देकर मार गिराया और आदिवासी औरत को भी छोडा नहीं। अधिकारी वर्ग ने खुलेआम आदिवासी स्त्री का बलात्कार किया। पैसे और सत्ता के बलबूते पर मासूम आदिवासी को पैरों तले कुचल दिया। जंगल की मूल निवासी या उसका मालिक अब एक वक्त की खाने के मोहताज बन गये हैं।

पटकथाकार ने अधिकारियों के असली चेहरे को सामने लाया है। आदिवासी उत्थान के नाम पर असल में उनके शोषण करनेवाले दरिन्दे अधिकारी वर्ग ही हैं। ज़मीन्दार, ठेकेदार, पूँजीपति, नेता, वन अधिकारी, पुलिस सब एक ही सिक्के के दो पहलू है। वक्त बदलते हैं और शोषण करनेवालों की चेहरे बदलते हैं। इसके अलावा कोई परिवर्तन नहीं होता। 'कर्तव्य', 'जनम-जनम', 'कुदरत', 'बैंडिट क्यून',

'चक्रव्यूह', 'हज़ार चौरासी की माँ', 'लाल सलाम', 'आक्रोश', 'ये गुलिस्ताँ हारा', 'रोटी', 'मृगया', 'दो दिल' 'मधुमति' आदि फिल्मों में अधिकारी वर्ग के शोषण के शिकार बने मासूम आदिवासी नज़र आते हैं। पुरुष-नारी दोनों पर अत्याचार बारीकी से हो रहा है। कुछ फिल्मों में ही इसके खिलाफ विद्रोही स्वर बाहर आये हैं। विद्रोह करनेवालों को मार डालते हैं या झूठे आरोप में जेल पहूँचाते हैं। अधिकारी वर्ग रिश्वत देकर सब काम आसानी से निपटाते हैं।

सत्ताधिकारी आदिवासी को भार ढोनेवाले गधे के रूप में देखते हैं। उनके लिये वे अनपढ़, जाहिल है। पटकथा के ज़रिए यह व्यक्त किया है कि पहले ज़मीन्दार आदिवासियों के साथ जो जुल्म करते थे आज सरकार अपने अधिकारियों से यही करवाता हैं। इसमें समाज में व्याप्त असमानता को व्यक्त किया है। पढे-लिखे शिक्षित समाज होकर भी लोगों की जातिगत चिन्ताएँ संकुचित हैं। वह अपनी सवर्ण मानसिकता को त्यागने के लिये कभी तैयार नहीं है। यही कारण है कि आदिवासी आज भी हाशिए पर है। इसके अपवाद के रूप में कुछ आदिवासी क्षेत्रों में विकास की लहर पडी है। वे पढ-लिख कर बडे ओहदे पर पहूँच भी गये लेकिन ज्यादातर लोग अपने समाज को अनदेखा करते हैं या सभ्य समाज के साथ मिलकर उनका शोषण करते हैं। ऐसे कम अफसर है जो आदिवासी समाज को विकास की ओर ले जाने में प्रयत्नरत है।

पटकथाकार ने फिल्मों में अधिकारियों की सच्चाई को सामने रखा हैं। मगरमच्छ की आँसू बहाकर आदिवासी विकास के लिए प्रयत्न करनेवाले अधिकारी वर्ग असल में ढोंगी हैं। दूसरों को दिखाने के लिए वे यह सब करते हैं। उनके मन में आदिवासी या उनके समाज के प्रति कोई दिलचस्पी नहीं है। सब दिखावा ही

करता है। यही कारण है कि आदिवासी वही का वही रह गया है। मुख्यधारा में लाने में आज तक सफल नहीं हुआ है। पटकथाकार ने इन सभी समस्याओं को फिल्मों के ज़रिए व्यक्त किया हैं जो मार्मिक और प्रभावी है।

**निष्कर्ष**

सदियों से पीडित, शोषित, वंचित समाज है आदिवासी। आज भी उनकी स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया है। गरीबी, बेराज़गरी, बीमारी, विस्थापन, नक्सलवाद आदि कई समस्याओं के बीच आदिवासी रहते हैं। इन समस्याओं का कोई समाधान अब तक ढूँढा नहीं है। सदियों से वे ख़देडे गये है आज भी यह सिलसिला जारी हैं। आदिवासी को अपने अस्मिता और अस्तित्व के लिया लडना पडता है। सरकार द्वारा आदिवासी उत्थान के लिये कई योजनाएँ, कई सगठनों की भी शुरुआत किया है लेकिन पुर्ण रूप से इसका लाभ आदिवासी समाज तक नहीं पहूँचता हैं। आदिवासी के लिये या उनके विकास के लिए दी गयी पैसों से अधिकारी वर्ग अपनी निजी विकास के लिये उपयोग करते हैं। आदिवासी आज भी गरीबी और अभाव में जीवन बिताते हैं।

पटकथाकार ने आदिवासी समाज की इस त्रासद गाथा को अपने फिल्म का विषय बनाया है। इससे दर्शक आदिवासी समाज और उनकी समस्याओं से अवगत हो जाए। उन्हें पता चले कि आदिवासी लोगों की असली ज़िन्दगी कितनी कठोर है। चारों तरफ से शोषण के शिकार होनेवाले समाज, अपने ही भूमि से पराये की तरह पलायन करनेवाले, अपनी सांस्कृतिक धरोहर को छोडकर शहर की ओर जानेवाले बेबस, मासूम लोग हैं आदिवासी। उनकी व्यथा- कथा को ही पटकथाकार ने कागज़ पर उतारा है। आदिवासी जीवन को उजागर करने में पटकथा की अहम भूमिका है।

पटकथा के ज़रिए आदिवासी समाज के यथार्थ चित्र को प्रस्तुत करने में पटकथाकार एक हुद तक सफल हुए है। उन्होंने अपनी सशक्त लेखनी से सच्चाई को प्रस्तुत करने का साहस दिखाया है। आदिवासी की असली समस्या को उजागर करने से ही उनकी समस्याओं का समाधान हो सकता है। समस्या का हल मिलने से ही उनका विकास संभव हो सकता है। पटकथाकार ने आदिवासी फिल्मों द्वारा उनके उत्थान के लिये महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

हिन्दी फिल्मों में बहुत कम संख्या में ही आदिवासी समाज को लेकर बनी फिल्में मौजूद हैं। आदिवासी समाज के उत्थान के लिए ज्यादातर फिल्मों का पर्दे पर फिल्माना ज़रूरी हैं। इसके लिए बाधा के रूप में सभ्य समाज ही सामने खडे हैं। इसलिए आदिवासी समाज  के लोगों को ही अपनी जीवन की वास्तविकता को दर्शक के सामने प्रस्तुत करने की ज़िम्मेदारी उठाना चाहिए नहीं तो सवर्ण मानसिकता के आड में दलित-आदिवासी को फिल्मी दुनिया से अलग रखने वाले कभी भी आदिवासी को आगे बढ़ने नहीं देंगे। आदिवासी उत्थान के लिए फिल्मी दुनिया में आदिवासी लेगों का हस्तक्षेप होना आवश्यक है। इससे आदिवासी समाज की वास्तविकता से लेग अधिक परिचित हो सकते हैं। पटकथाकार को भी ऐसी विषयों में फिल्म बनाने के लिए आगे बढ़ना चाहिए। आदिवासी और उनके जीवन को केन्द्र बनाकर ज्यादातर फिल्में बननी चाहिए। इससे ही आदिवासी समाज का उत्थान संभव है।

## सन्दर्भ सूची


1. डॉ. सातप्पा सावंत- साक्षात्कार-2009, पृ.25
2. डॉ. पी.आर.नायडू- भारत के आदिवासी, पृ.106
3. रमणिका गुप्ता- आदिवासी कौन, पृ.180
4. श्याम सिंह शाशी- भारत की आदिवासी महिलाएँ, पृ.52-53
5. मोहनदास नैमिशराय- 1857 की क्रांति में दलितों का योगदान, पृ.201
6. भरत कुमार- समाज का आईना है सिनेमा, अप्रैल 2007 एक रिपोर्ट
7. डॉ. देवेन्द्र नाथ सिंह और डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव- भारतीय हिन्दी सिनेमा का विकास यात्रा, पृ.48
8. शिव अनुराग- व्यवस्था के खिलाफ बन्दूक, पृ.1
9. नई दुनिया- अगस्त, 2009, पृ. 6
10. डॉ. रमणिका गुप्ता- आदिवासी अस्मिता का संकट, पृ. 13

JYOSMI. K. “A STUDY OF TRIBAL LIFE IN HINDI SCREENPLAY”. THESIS. DEPARTMENT OF HINDI, UNIVERSITY OF CALICUT, 2018.

# छठा अध्याय

# उपसंहार

विश्व का प्रत्येक मानव समूह सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अनेक समुदायों एवं स्तरों में विभाजित हैं। भारतीय समाज की अभिन्न विशेषताओं के रूप में सदैव से विद्यमान रहा है। समय-समय पर भारत में विभिन्न समूह प्रवेश करते रहे लेकिन कालान्तर में ऐसे सभी समूहों की सांस्कृतिक परंपराएँ भारतीय समाज का अभिन्न अंग बन गयी। इसके पश्चात् भी इनमें अनेक मानव समूह ऐसे थे जिन्होंने बाह्य सभ्यता के कुछ तत्वों को ग्रहण करने के पश्चात् भी अपनी मौलिक सांस्कृतिक विशेषताओं को नष्ट नहीं होने दिया। साधारणतया ऐसे समूहों को ही 'जनजाति' नाम से संबोधित करते हैं।

आज़ादी के 71 साल बाद भी भारत के आदिवासी उपेक्षित, शोषित और पीडित नज़र आते हैं। भारत को हम भले ही समृद्ध विकासशील देश की श्रेणी में शामिल कर लें, लेकिन आदिवासी अब भी समाज की मुख्य धारा से कटे नज़र आते हैं। हज़ारों वर्षों से जंगलों और पहाडी इलाकों में रहनेवाले आदिवासियों को हमेशा से दबाया और कुचला जाता रहा हैं। जिससे उनके ज़िन्दगी अभावग्रस्त ही रही। केन्द्र सरकार आदिवासियों के नाम पर हर साल करोडों रुपये का प्रावधान बजट में करती है। इसके बाद भी 6-7 दशक में उनकी आर्थिक स्थिति, जीवन स्तर में कोई बदलाव नहीं आया है। स्वास्थ्य सुविधाएँ, पीने का पानी आदि मूलभूत सुविधाओं के लिए वे आज भी तरस रहे हैं।

आदिवासी दूर-दराज जंगल और पहाड पर रहकर वनोपज, कृषि, शिकार आदि से अपनी जीविका चलाकर खुशहाल ज़िन्दगी जी रहे थे। लेकिन जब से उनकी खनिज संपदा पर सभ्य समाज की नज़र लगी तब से आदिवासी लोगों की विनाश का सिलसिला शुरु हुआ।

आदिवासी समाज आज कई समस्याओं से जूझ रहे हैं। इसमें गरीबी, शोषण, महंगाई, विस्थापन, अशिक्षा, नक्सलवाद, पलायन आदि समस्याएँ चरम सीमा पर पहूँच गये हैं। आदिवासी के इन समस्याओं को उजागर करने की कोशिश साहित्यकार और फिल्मकार करते हैं। साहित्य के विभिन्न विधाओं में आदिवासी जीवन को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। आदिवासी साहित्य वस्तुतः जीवन का साहित्य है, वन संस्कृति का साहित्य है। यह साहित्य उन वन-जंगलों में रहनेवाले वंचितों का साहित्य है जो सभ्य हुआ नहीं या होने ही नहीं दिया गया। वास्तव में आदिवासी साहित्य, आदिवासियों की पीड़ा की अभिव्यक्ति हैं। उनके जीवन की विषमताओं, कठिनाइयों, समस्याओं की अभिव्यक्ति आदिवासी साहित्य विमर्श की पहचान है।

साहित्य के ज़रिये आदिवासी जीवन को उजागर करने के बाद भी आदिवासी समाज के प्रति सभ्य समाज के व्यवहार में ख़ास बदलाव नहीं आया है। साहित्य की कुछ सीमाएँ होती है। साहित्य से पढे लिखे शिक्षित लोग ही फायदा उठा सकते हैं अनपढ लोग इससे अंजान रहते हैं। ऐसे माहौल में ही फिल्म की ताकत या प्रभाव को महसूस किया जा सकता है। फिल्म की कोई सीमा नहीं होती। शिक्षित-अशिक्षित सब लोग इसका मनोरंजन कर सकते हैं। फिल्म की आत्मा है पटकथा। बिना पटकथा के फिल्म पूरा नहीं हो सकता। फिल्म की सफल-असफलता में पटकथा का महत्वपूर्ण भूमिका है। पटकथा लेखक अपनी जादुई लेखन से दर्शकों को मनोरंजन की चरम सीमा पर पहूँचाते हैं। पटकथा लेखन साहित्य लेखन से भिन्न तकनीकी लेखन है। दोनों मनोरंजन का साधन है फिर भी कुछ भिन्नता है। साहित्यकार कुछ भी लिख सकते हैं। उसमें समय या किसी नियम का दायरा नहीं

होता लेकिन पटकथा लेखन में समय की पाबंदी होती है और फिल्म निर्माण के दायरे में रहकर ही वे लिख सकते हैं। वास्तव में साहित्यकार को जितनी छूट मिलती है उतना पटकथाकार को नहीं मिलता क्योंकि ढाई घंडे के अन्दर उन्हें कहानी ख़त्म करना होता है।

साहित्य की तरह फिल्म भी समाज का आईना है। समाज में व्याप्त हर मुद्दों को फिल्म का विषय बनाया जाता है। इन मुद्दों से दर्शक को रूबरू कराना ही पटकथाकार का लक्ष्य है। फिल्में इन्सान की ज़िन्दगी में वह हरियाली है जिससे उसका मन, अंतर आत्मा और दिमागा तरोताज़ा होता है। हालांकि सिनेमा और साहित्य दो पृथक विधाएँ है लेकिन दोनों का पारस्परिक संबंध बहुत गहरा है। विश्व में हिन्दी भाषा को प्रचार करने में फिल्म की अहम भूमिका रही है। पहले सिनेमा पौराणिक कथा के आधार पर होते थे। साहित्य कृतियों पर ढेरों फिल्में बनी लेकिन कुछ अपवादों को छोड अधिकांश फिल्म की स्थिति ऐसी हुई कि मुंबई फिल्मकार हिन्दी साहित्यिक कृतियों पर फिल्म बनाने से डरने लगे। प्रेमचन्द, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर, पाँडेय बेचेन शर्मा 'उग्र' आदि रचनाकारों को भी फिल्मी दुनिया से निराश होकर लौटना पडा हैं।

साहित्य एक मौलिक सृजन है और फिल्म इस मौलिक सृजन का पुनसृजन है। अच्छे सिनेमा के निर्माण के लिए साहित्य का आधार का होना बहुत ज़रूरी है। साहित्य कृतियों पर बनी फिल्म अपने आप अच्छी हो, ऐसा नहीं होता। वास्तविकता यह है कि साहित्य कृति का सौन्दर्यशास्त्र और सिनेमा का सौन्दर्यशास्त्र अलग-अलग है। साहित्य और सिनेमा का मूलभूत प्रयोजन लोगों का मनोरंजन करना है। दोनों ऐसे माध्यम है जिसमें समाज को बदलने की ताकत सबसे अधिक होती है। यह

कहना गलत न होगा कि सिनेमा साहित्य से अधिक प्रभावशाली और आम जनता तक सरलता से पहूँचने वाला माध्यम है। असल में साहित्य का विकसित रूप ही आज सिनेमा के नाम से जाना जाता है। आज फिल्में जन सामान्य के लिए मनोरंजन तथा शिक्षा का सशक्त माध्यम है।

पटकथा किसी फिल्म या धारावाहिक का लिखित रूप होता है। साहित्य और पटकथा का निकट संबंध है। लेकिन आज भी पटकथा को साहित्य के रूप में देखने के लिए कुछ लोग तैयार नहीं है। उनके अनुसार पटकथा सिर्फ फिल्म निर्माण से संबंधित प्रक्रिया है। वे साहित्य और पटकथा को अलग मानते है। यह सच है कि पटकथा अलग तरीके से लिखा जाता है क्योंकि पटकथा साहित्य लेखन से ज्यादा तकनीक पर अधिक महत्व देते हैं। उन्हें फिल्म निर्माण की हर पहलुओं से परिचय पाना है। कई साहित्यकार पटकथा को फिल्म का प्रारूप ही मानते है। उनके लिए फिल्म तैयार करने की सीढी मात्र है पटकथा। साहित्यकार के अनुसार साहित्य कृति को पढकर पाठक जिस प्रकार भाव-विभोर हो जाते हैं उस तरह का अस्वादन पटकथा पढने पर नहीं होता। साहित्यकार पटकथा केलिये प्रतिभा और कौशल को ज़रूरी नहीं मानता उनके अनुसार अभ्यास मात्र से पटकथाकार बन सकते हैं। साहित्यकार यह भूल जाते हैं कि अच्छे साहित्यकार बनने से अच्छे पटकथाकार बने यह ज़रूरी नहीं बल्कि साहित्य रचना किये बिना भी सफल पटकथाकार बन सकते हैं।

साहित्य और पटकथा अलग-अलग विधा है। साहित्य का प्रमुख तत्व शब्द है और फिल्म का दृश्य। साहित्य की तरह पटकथा भी लिख कर तैयार होते हैं और साहित्य की तरह पटकथा भी लोगों का मनोरंजन करते हैं। इसलिए ही आज साहित्य कृति की तरह पटकथा की माँग बढ रही है। लोग पटकथा पढने के लिए रुचि और

उत्सुकता दिखा रहे हैं। साहित्य और पटकथा की शैली अलग हो सकती है लेकिन दोनों का काम मनोरंजन प्रदान करना है। साहित्य की सीमा होती है लेकिन पटकथा की नहीं। साहित्य से सिर्फ शिक्षित वर्ग ही लाभ उठाते है लेकिन पटकथा जब जब फिल्म के रूप में बाहर आते है तो उसका आस्वादन अनपढ-गवार लोग भी करते हैं। इसलिए यह कहना गलत न होगा कि पटकथा साहित्य ही है।

सिनेमा दृश्य-श्रव्य माध्यम होने के कारण प्रभावी भूमिका निभा पाने में सक्षम है। सिनेमा अपने युग का आईना होता है और उनमें पूर्णतया समसामयिक सामाजिक जीवन का ही प्रतिफलन होता है। फिल्म में समाज के हर विषय, हर वर्ग को लेकर फिल्म बनाता है। दलित और आदिवासी को सभ्यता के विकास के प्रारंभ से ही होशिए पर फेंका गया इसलिए फिल्मकारों का ध्यान इस ओर देर से गया। एक ओर बात है कि शुरूआत से ही फिल्मी दुनिया में उच्च वर्ग या उच्च जाति का ही प्रभुत्व रहा है। इसलिए हाशिएकृत आदिवासी समाज को फिल्म की सुनहले पर्दे पर पाँव रखने में काफी समय लगा और सभ्य समाज ने आदिवासी या उनकी समस्याओं को अनदेखा कर दिया। इसलिए आदिवासी समाज अनछुए पहलू की तरह आज भी फिल्मी दुनिया से दूर है।

भारतीय सिनेमा में आदिवासियों का यथार्थ चित्रण उजागर करने की कम ही कोशिशें की गयी हैं। आदिवासियों पर आधारित जो थोडी फिल्में आयी भी है तो उन्हें समझने के लिए पाठक उतना तैयार नहीं होता क्योंकि वह उनकी स्थिति और परंपराओं से बिल्कुल अन्जान है। आज भी सिनेमा में आदिवासी प्रश्न एवं प्रसंग उपेक्षित है शुरुआती दौर से ही इस दिशा में अबूझ उदासीनता देखने को मिलती रही है। आदिवासियों का अपना अलग समाज रहा है- जंगलों, पहाडों, देश के कुदरती

संसाधनों से उनका जुडाव रहा है लकिन मुख्यधारा की जातीय-वर्णीय व्यवस्था में आदिवासी कही नहीं है। आदिवासी समाज को देखने का लेगों का मुख्य रूप से दो दृष्टिकोण है। एक तो आदिवासी जंगली, बर्बर और दूसरी 'रोमोटिक' नज़रिया है। फिल्मों में आदिवासियों को जंगली और बर्बर दिखाने के पीछे काफी हद तक औपनिवेशिक मानसिकता ज़िम्मेदार है।

भूमण्डलीकरण और बाज़ारीकरण के इस दौर में हिन्दी फिल्म में भी समाज के जटिल और ज्वलंत मुद्दों को लेकर फिल्म बनाने की शुरूआत हुई है। बॉलीवुड आज भी हाशिएकृत समाज को लेकर फिल्म बनाने में कतराते है। सब अपने मुनाफे के बारे में ही सोचते है। दूर-दराज जंगलों में बसनेवाले आदिवासियों की व्यथा कथा देखने के लिए कोई दिलचस्पी नहीं दिखाते। हिन्दी फिल्मों की ओर नज़र डालने से यह पता चलता है कि सभ्य समाज के लिए आदिवासी या तो जंगली, बर्बर होते है नहीं दो दिल लुभानेवाली अर्ध नग्न शरीर। शुरुआती दौर में आदिवासी को भयंकर राक्षस के रूप में चित्रित करके उनका सर्वनाश को सबसे बडा धर्म बताया गया है। आदिवासियों की संवेदना और संत्रास आम आदमी की संवेदना और संत्रास से अलग है। ढेरों अतिक्रमण के बावजूद भी आदिवासियों की दुनिया आज भी एक पहेली है। दुर्गम इलाकों में उनकी बसावटों तक जाना सहज नहीं है। वही वजह है कि सिनेमा के संसार में भी आदिवासी उपेक्षित है।

हिन्दी फिल्मों में आदिवासी जीवन को केन्द्र बनाकर बने फिल्मों में बंजारा, संथाल, नागी और पहाडी आदिवासियों को फिल्माया गया हैं। इन सभी फिल्मों में आदिवासी समाज और उनकी समस्याएँ गायब हैं। कई फिल्मों में अर्ध-नग्न शरीर, दिखाकर तंग कपडों में नाच-गाना प्रस्तुत करनेवाले समाज के रूप में आदिवासी को

पर्दे पर दिखाया हैं। जो दर्शकों के मन लुभाने या मनोरंजन के लिए मात्र दिखाया हैं। लेकिन ऐसे कुछ फिल्में भी है जिसमें आदिवासी समाज की यथार्थ चित्र को उजागर करने में पटकथाकार सफल हुए है। आज आदिवासी समाज कई समस्याओं से गुज़र रहे हैं। उसमें सबसे ख़तरनाक समस्या विकास के नाम पर आदिवासियों को विस्थापित करके पलायन के लिये मजबूर करना है और दूसरा सभ्य समाज द्वारा आदिवासियों को नक्सलवाद से जोडकर देखना भी है। इस कारण आदिवासी अपने ही ज़मीन से खदेड दिये जा रहे हैं। आर्थिक बदहाली के कारण दर-दर के टोकरे खाने के लिये मज़बूर हो गये हैं। गरीबी, भूखमरी, अशिक्षा आदि से उनकी ज़िन्दगी बद से बदतर हो रहे हैं।

पटकथाकार ने आदिवासी समाज को निगल रही यथार्थ समस्या को दर्शक के सामने रखने की कोशिश की है लेकिन उसमें पूर्ण रूप से सफल नहीं हुए है। पटकथाकार ने नारी शोषण, वन दोहन, नक्सलवाद आदि मुद्दों को लेकर ज्यादातर फिल्में बनायी है। इसमें मनोरंजन के तौर पर कई फिल्में नज़र आते हैं उनमें बंजारा जीवन को लेकर 'तराना', 'धरम वीर', 'धर्मात्मा', 'कारवाँ' आदि फिलमें बनी हैं। इसमें प्रेम कहानी के माध्यम से आदिवासी जीवन को रंगीन मिसाज में दिखायी हैं। इसमें आदिवासी समस्या को नज़र अंदाज़ किया है।

आदिवासी फिल्मों में ज्यादातर 'बलात्कार' के शिकार हुई नायिका को देख पाते हैं। पूँजीपति, ज़मीन्दार, वन अधिकारी, पुलिस, नेता आदि के हवस के शिकार बनी मासूम आदिवासी लडकियों को फिल्माने का दौर ही शुरू हो गयी है। 'मधुमती', 'मृगया', 'इज्ज़त', 'कुदरत', 'जनम-जनम', 'बरसात', 'सावन की घटा', 'बैंडिट क्यून', 'लाल सलाम', 'आक्रोश', 'चक्रव्यूह' आदि फिल्मों में नारी

शोषण को फिल्मायी गयी हैं। पटकथाकार ने आदिवासी समाज की बाकि सब समस्या को छोड कर इस विषय को लेने के पीछे का कारण दर्शकों को लुभाना ही है। आदिवासी फिल्मों में आर्थिक रूप से संपन्न आदिवासी को ही ज़्यादातर देख पाते हैं। बाज़ारीकरण की इस दौर में नारी को भी बाज़ारू चीज़ के रूप में दिखाते हैं। नारी उनके लिये बाज़ार में नीलाम करने की वस्तु के रूप में इस्तेमाल होते हैं। आज सब कुछ सेक्स पर टिका है। बच्चे हो या बूढे कोई भी इससे बचता नहीं। लोग इतने गिरे हुए हैं की अपनी ही बेटी को बलात्कार करते बाप और अपने ही माँ का बलात्कार करते बेटे को भी आज हम देखने के लिए मज़बूर हो रहे हैं। आज रिश्ते-नाते सब बिकाऊ बन गये हैं। सब स्वार्थी हो गये हैं और अपनी खुशी के लिए जीते हैं। आज के मानव पैसा और सेक्स के पीछे पागल कुत्ते की तरह दौड लगाती नज़र आते हैं। विडंबना की बात यह है कि जिसे हम जंगली, बर्बर, अनपढ कहकर मज़ाक उठाते हैं उनके यहाँ यह सब नहीं होते हैं बल्कि यह सब शिक्षित सभ्य समाज में ही मौजूद है। आदिवासी समाज में वधुमूल्य देकर शादी होती है इसलिए दहेज के नाम पर शोषण या हत्या भी नहीं होते हैं। असल में सोचने की बात है कि सही मायने में बर्बर या राक्षस कौन है।

आज की ज्वलंत समस्या के रूप में नारी शोषण सामने आते हैं। पटकथाकार ने फिल्म में इसे बखूबी से चित्रित किया है और नारी की विद्रोही स्वर को ही उजागर किया है। 'बैंडिट क्यून', 'चक्रव्यूह', 'लाल-सलाम' आदि फिल्मों में बलात्कार की बेइज्ज़ती से बचने के लिये लड़कियाँ आत्महत्या नहीं करती बल्कि अपने पर हुई अत्याचार के विरुद्ध लडने की हिम्मत जुडाती है और उनसे बदला लेने की ताकत अर्जित करती हैं। पटकथाकार ने फिल्मों के ज़रिए यह बताया है कि

शोषण पर रोने-धोने से कुछ नहीं होता बल्कि उन शिकारियों को इस दुनिया से ही हटाना चाहिए। सख्त कानून के अभाव में मुजरिम बच जाते हैं इसलिए अपने न्याय के लिए नारी को खुद लडना चाहिए। यह लडाई केवल अपने लिये नहीं बल्कि पूरे नारी समाज के लिये होना चाहिए।

आज आदिवासी समाज को विकास के नाम पर सरकार, अधिकारी वर्ग, कॉपरेट कंपनी आदि अपनी निजी स्वार्थ पूर्ती के लिए मोहरा बना रहे हैं। आदिवासी ज़मीन की खनिज संपदा को हासिल करने के लिये विकास के झूठे सपने दिखाकर उन्हें धोखा देते हैं। सभ्य समाज आदिवासी को नक्सलवाद से जोडकर देखते हैं। 'लाल सलाम', 'हज़ार चौरासी की माँ', 'चक्रव्यूह' आदि फिल्मों में नक्सलवाद की विभीषिका का मार्मिक चित्रण है। वास्तव में आदिवासी समाज के कम प्रतिशत लोग ही नक्सलवाद से जुडे हैं। इसका मुख्य कारण आर्थिक बदहाली और नक्सलवादियों का डर हैं। लेकिन सरकार के खिलाफ आवाज़ उठानेवाले अपने हक और अधिकार के लिये संघर्ष करनेवाले हर आदिवासी को नक्सलेट नाम देकर मार-गिराते हैं और अपनी कूटनीति को कामयाब बनाने की कोशिश में सभ्य समाज लगे हुए हैं। सरकार या अधिकारी नकस्लवाद को खत्म करने के बजाय नक्सलवादियों को खत्म करने के लिए लगे हैं। इससे आदिवासी समाज को पूरी तरह तहस-नहस करके उनकी खनिज संपदा से करोडों रुपये कमाने के साज़िश रच रहे हैं।

असल में आदिवासी उत्थान के लिए उनकी असली समस्या को विश्व के सामने उजागर करने की ज़रूरत है। सरकार मुनाफे के लिए कॉपरेट कंपनी से करोडों रुपये लेकर आदिवासी को जंगल बेच रही हैं। नेता, पुलिस, सरकार सब

इन कंपनियों के हाथों के कठपुतली बन गये हैं। अपने ही ज़मीन से वे ख़देड दिये जा रहे हैं। अपने ही जाति की शिक्षित और नेता द्वारा भी वे शोषण या अत्याचार के शिकार होते हैं। जब तक उनकी असली समस्या का समाधान नहीं होता तब तक वह हाशिएकृत ही रहेंगे। पटकथाकार को अपनी लेखनी में आदिवासी जीवन की यथार्थ पहलू को उजागर करना चाहिए इससे ही लोग उनसे रूबरू होगी। मनोरंजन के लिए आदिवासी पटकथा को विषय बनाकर निर्माता, निर्देशक और पटकथाकार को मुनाफा मिलता है। लेकिन इससे उस हाशिएकृत समाज को कुछ हासिल नहीं होता। पटकथाकार ने आदिवासी समस्या को प्रस्तुत करने की कोशिश की है जिसमें एक हद तक सफल हो पाये हैं। आदिवासी की असली समस्या अशिक्षा और गरीबी है। शिक्षा के ज़रिए ही आदिवासी आज अपने अस्तित्व और अस्मिता बचाये रखने के लिए संघर्षरत है। इसलिए शिक्षा के महत्व को लेकर भी फिल्म बनाने की ज़रूरत है।

भारतीय समाज का ढाँचा जटिल जातिवादी दृष्टिकोण पर आधारित है। हमारे समाज के आदिवासी सिनेमा का हिस्सा तो बना मगर उनके वास्तविक जीवन का यथार्थ पेशकश नहीं हुआ है उसमें काल्पनिकता का बहाव अधिक नज़र आते हैं। पटकथाकार को यह ध्यान रखना चाहिए कि अपनी सशक्त लेखनी से आदिवासी के यथार्थ जीवन को परदे पर लाने पर ही सभ्य समाज के लोग उनके यथार्थ जीवन से अवगत होंगे। इसलिए पटकथा लेखन को पैसा कमाने की ज़रिया समझने के बजाय अपना सामाजिक दायित्व समझकर आदिवासी समाज को सशक्त रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश हर पटकथाकार को करना चाहिए। आदिवासी को आज भी फिल्मी दुनिया में अनछुए पहलू की तरह हाशिए पर रखा है इसका मूल कारण फिल्म पर

सवर्ण लोगों का कब्जा है इसलिए आदिवासी समाज की असली ज़िन्दगी को उजागर करने के लिए आदिवासी लोगों का फिल्मी दुनिया में कदम रखना ज़रूरी है। इससे उनकी असली समस्या को दर्शक के सामने पेश कर सकते हैं। आदिवासी समाज को बुलंदियों तक पहूँचाने की ताकत पटकथा या फिल्म रखता है। इसलिए आदिवासी लोगों को इसका फायदा उठाना चाहिए।

अध्ययनोपरांत उभरे हुए विचार बिन्दुओं को कुछ इस प्रकार समेटा जा सकता है-

- जनजातियों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाना।
- शिक्षा के प्रचार व प्रसार से जनजातियों को जागृत करना।
- जनजातीय समस्या को राष्ट्रीय समस्या के रूप में आंकना।
- सामाजिक विकास के लिए अन्य समुदाय के विकसित लोगों से संपर्क एवं मेलजोल।
- नक्सलवाद की समस्या का जल्द से जल्द हल।
- जनजातीय समुदाय स्वयं अपने समाज का नेतृत्व संभाले और युवाओं को नेतृत्व प्रदान करें।
- रोज़गार योजना का बढ़ावा और मज़दूरी को बढ़ाना।
- हीन भावना त्याग कर आत्म विश्वास पैदा करना।
- धर्म परिवर्तन से जनजातीय समुदाय विघटित हो रहे है इसलिए आर्थिक स्थिति में सुधार।
- स्वावलंबी और आत्मनिर्भर होने से विकास संभव है।

- जनजातीय द्वारा उत्पादित वस्तुओं का उचित बाज़ार मूल्य मिलना।
- अधिकार संबंधी कानून बनाना।
- सरकारी नौकरियों पर पद प्राप्त कराना।
- सरकारी स्तर पर आवास, बिजली, पानी, भोजन आदि की सुविधा प्रदान करना।
- बाहरी लोगों के हस्तक्षेप को रोकना।
- आदिवासियों को उपलब्ध कराया जाने वाला अनुदान आदिवासियों तक सीधे पहूँचे ऐसी व्यवस्था करना।
- जन संचार माध्यमों में आदिवासियों का हस्तक्षेप होना।
- आदिवासियों के असली समस्या का हल ढूँढ़ना।
- आदिवासी शोषण करनेवालों को कडी से कडी सज़ा देना।
- सरकार का जनजातियों के विकास के प्रति पूरी ईमान्दारी दिखाना।
- आधुनिक कृषि से परिचय कराना।
- आदिवासी ज़मीन को लौटाना।
- जंगल के खनिज संपदा पर भागीदारी।
- शिक्षा से अपने अस्मिता और अस्तित्व को सुरक्षित रखना।

JYOSMI. K. “A STUDY OF TRIBAL LIFE IN HINDI SCREENPLAY”. THESIS. DEPARTMENT OF HINDI, UNIVERSITY OF CALICUT, 2018.

# संदर्भ ग्रंथ-सूची

# संदर्भ ग्रंथ-सूची

## मूल फिल्म


1. आत्मा राम : ये गुलिस्ताँ हमारा (1972)
2. गोविन्द निहलानी : आक्रोश (1980)
3. गोविन्द निहलानी : हज़ार चौरासी की माँ (1998)
4. चेतन आनंद : कुदरत (1981)
5. टी.प्रकाश राव : इज्ज़त (1968)
6. दीपक बहरी : तराना (1979)
7. नसीर हुसैन : कारवाँ (1981)
8. नंदलाल जसबंतल : नागिन (1954)
9. प्रकाश झा : चक्रव्यूह (2012)
10. फिरोज़ ख़ान : धर्मात्मा (1975)
11. मनमोहन देसाई : घरम वीर (1977)
12. महबूब : रोटी (1964)
13. मृणाल सेन : मृगया (1976)
14. राज कपूर : बरसात (1949)
15. विजय सदानाह : जनम-जनम (1988)

16. शक्ति सामंत : महबूबा (1976)

17. शेखर कपूर : बैंडिट क्यून (1994)

18. शंकर : राजकुमार (1964)

19. हृषिकेश मुखर्जी : दो-दिल (1965)

**सहायक ग्रन्थ**


1. डॉ.अनुपम ओझा : भारतीय सिने सिद्धान्त
   राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2002

2. उमेश राठौर : पटकथा लेखन फीचर फिल्म
   तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2001

3. डॉ.ए.सी.लांबा : मानवाधिकार और पिछडा वर्ग
   प्रेमचन्द बाकलीवाल प्रकाशन, प्र.सं.2005

4. कुलदीप सिन्हा : फिल्म निर्देशन
   राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2007

5. गिरीश कुमार : आदिवासी संस्कृति एवं प्रथाएँ
   ओमेगा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2009

6. गीताश्री : सपनों की मण्डी
   वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.2012

7. गोविन्द शर्मा : हिन्दी सिनेमा पटकथा लेखन
   परिदृश्य प्रकाशन, मुंबई, सं. 2003

8. गौतम भाईदास कुंवर : आदिवासी लोक साहित्य
चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं. 2012

9. डॉ. चन्द्रकांत मिसाल : सामाजिक मूल्य निर्धारण में सिनेमा का योगदान
जगतभारती प्रकाशन, दूरवाणी नगर
सं. 2013

10. डॉ.चन्द्रप्रकाश मिश्र : मीडिया लेखन
संजय प्रकाशन, नई दिल्ली
द्वि.सं. 2003

11. नरेन्द्र एन.व्यास, डॉ.महेन्द्र भानावत : आदिवासी जीवनधार
हिमांशु पब्लिकेशन, नई दिल्ली
सं. 2008

12. नायडू पी.आर : भारत के आदिवासी विकास की समस्याएँ
राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्र.सं.2003

13. नारायण चौरे : कोरकू जनजाति का सांस्कृतिक इतिहास
विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर
प्र.सं. 1987

14. पूरणमल यादव : प्रेमचन्द
बाकलीवाल प्रकाशन, जयपुर, प्र.सं. 2008

15. प्रह्लाद अग्रवाल : बाज़ार के बाजीगर
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र.सं. 2007

16. भरत सगरे : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में आदिवासी जनजीवन
दिव्य डिस्ट्रिब्यूटर्स, कानपुर, प्र.सं. 2014

17. मधुसूदन तिवारी : भारत के आदिवासी
ओमेगा पब्लिकेशन, नई दिल्ली
प्र.सं. 2009

18. मनोहरश्याम जोशी : पटकथा लेखन-एक परिचय
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2000

19. मन्नू भण्डारी : कथा-पटकथा
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र.सं. 2003

20. मोहन चह्वाण : बंजारा बोली भाषाः एक अध्ययन
सूर्या प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं. 2007

21. रत्नाकर भेंगरा
सी.आर बिजॉय और
शिमरीचॉन लोइथुई : भारत के आदिवासी
राज प्रिन्टेर्स, मीरट, हिन्दी अनुः 2001

22. रमणिका गुप्ता : आदिवासी साहित्य यात्रा
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र.सं. 2008

23. रमणिका गुप्ता : आदिवासी विकास से विस्थापन
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र.सं. 2008

24. रमणिका गुप्ता : आदिवासी अस्मिता का संकट
सामायिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2013

25. डॉ.रमेशचन्द्र : मीडिया लेखन
मंगलदीप प्रकाशन, जयपुर, प्र.सं. 2004

26. राजेन्द्र कुमार : जनजातीय विकास के नवीन आयाम
ए.पी.एच पब्लिशिंग कॉपरेशन
नई दिल्ली, प्र.सं. 2008

27. राजेन्द्र पांडे : पटकथा कैसे लिखें
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2006

28. डॉ. राधेश्याम : जनसंचार
हरियाणा साहित्य अकादमी
चंदीगढ, सं. 1988

29. राही मासूम रजा : सिनेमा और संस्कृति
अरुणोदय प्रकाशन, दिल्ली
प्र.सं. 2001

30. डॉ. लक्ष्मण प्रसाद सिन्हा : भारतीय आदिवासियों की सांस्कृतिक,
प्रकृति-पूजा और पर्व त्योहार
जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
द्वि.सं. 2011

31. डॉ. लक्ष्मण प्रसाद सिन्हा : भारतीय आदिवासी
जयभारती प्रकाशन, सं. 2010

32. वी.के.कलासवा : हिन्दी में आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यासों
का समीक्षात्मक अध्ययन
ज्ञान गंगा प्रकाशन, दिल्ली, प्रं.सं. 2009

33. शिवकुमार तिवारी : भारत की जनजातियाँ
नार्दर्न बुक सेन्टर, नई दिल्ली, 1992

34. डॉ.शिवतोष दास : भारत की जनजातियाँ
किताबघर, दिल्ली, सं. 1983

35. डॉ.शिवाज दवेरे
डॉ.मधु ख्रावटे : समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श
विद्या प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं. 2013

36. शेख़ शहनाज़ बेगम : आदिवासी साहित्य स्वरूप एवं विश्लेषण
समता प्रकाशन, कानपुर
प्र.सं. 2014

37. शैला चव्हाण : आदिवासी समाज एवं संस्कृति
रोशनी पब्लिकेशन, कानपुर
प्र.सं. 2014

38. श्याम सिंह शाशी : भारत की आदिवासी महिलाएँ
समकालीन प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1983

39. डॉ.सुभाषचन्द्र वर्मा : थारू जनजाति : एक समाज शास्त्रीय अध्ययन
नवयुग पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स
नई दिल्ली, प्र.सं. 2008

40. हरमल सिंह : फिल्में कैसे बनती है
राजस्थान पत्रिका, जयपुर, प्र.सं. 1996

41. हरिश्चन्द्र शाक्य : आदिवासी और उनका इतिहास
अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2011

42. डब्लु.वी. ग्रिग्सन : मध्य प्रान्त और बरार में आदिवासी समस्याएँ
वन्या प्रकाशन, भोपाल, प्र.सं.2008

## अंग्रेज़ी ग्रन्थ

1. B.V.P : The Art of Screenplay writing
Golden Printing Works, Banglore

2. C.Nagh & V.Oakey : The Screen Writing
Handbook Perennial Library
Newyork, 1978

3. Syed Field : Screenplay- The Foundation of Screen Writing, A Delta Book, New York, 1979

4. Robert A. Armour : Film a Reference Guide
Greenwood, 1980

## मलयालम ग्रन्थ

1. डॉ.आर.वी.एम दिवाकरन : कथयुम तिरक्कथयुम
ओलीव पब्लिकेशन, कोष़िक्कोड
प्र.सं. 2005

2. ए. चन्द्रशेखर : काष़्च्चपकर्चा सिनिमयुडे सौन्दर्यवुम राष्ट्रीयवुम
ओलीव पब्लिकेशन, कोष़िक्कोड
प्र.सं. 2012

3. डॉ. टी.जितेश : सिनिमयुडे व्याकरणम्
ओलीव पब्लिकेशन, कोष़िक्कोड, प्र.सं. 2009

4. ओ.के.जोनी : निशब्द निलविलिकल
डी.सी बुक्स, कोट्टयम्
प्र.सं. 2010

5. के.आर.सतीशन नायर : आदिवासिकलुम मुलंकाटुकलुम
मातृभूमि बुक्स, प्र.सं. 2012

6. शान्ता तुलसीधरन : केरलत्तिले आदिवासिकल जीवितवुम संस्कारवुम
मातृभूमि बुक्स, प्र.सं. 2015

**कोश- ग्रंथ**

1. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी विश्वकोश

2. हरिकृष्ण रावत : सामाजिक समाजशास्त्र विश्वकोश

3. भोलानाथ तिवारी : व्यावहारिक हिन्दी कोश

**पत्र-पत्रिकाएँ**

1. आजकल - अक्तूबर- 2012

2. आजकल - दिसंबर- 1990

3. औरत - जनवरी-सितंबर - 2006

4. कादंबिनी - अक्तूबर - 1987

5. तमिलनाडु बलेटिन - फरवरी - 2013

6. धर्मयुग - अगस्त - 1994

7. नई धारा - फरवरी-मार्च - 2008

8. नागरी संगम - जनवरी-मार्च- 1998

9. परोपकारी - अप्रैल - 1996

10. भाषा - जुलाई-अगस्त- 2005

11. योजना - फरवरी – 1981

12. शोध पत्रिका - जुलाई-सितंबर- 2002

13. साक्षात्कार - मई – 1998

14. संग्रथन - सिंतबर-अक्तूबर – 2011

15. सचेतना - अक्तूबर – 1998

16. सचेतना - दिसंबर - 1981

**Website**

1. www.youtube.com

2. https://m.hindi.webdunia.com

3. https://hi.m.wikipedia.org.